प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला- 51

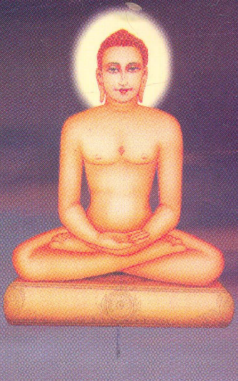

जैन धर्म एवं साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक : प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

समर्पण

प. पू. मालव सिंहनी
श्री वल्लभकुँवरजी म.सा.

प. पू. सेवामूर्ति
श्री पानकुँवरजी म.सा.

प. पू. सुप्रसिद्ध व्याख्यात्री
श्री हेमप्रभाश्रीजी म.सा.

प.पू.अध्यात्म रसिका
श्री मणिप्रभाश्रीजी म.सा.

ISBN-No.978-81-910801-8-6 (1)

प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला क्रमांक – 51

जैन धर्म एवं साहित्य का इतिहास

- लेखक -
डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक - प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)

प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला क्रमांक – 51

जैन धर्म एवं साहित्य का इतिहास

लेखक :
डॉ. प्रो. सागरमल जैन

प्रकाशक -
प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड शाजापुर (म.प्र.)
फोन न. 07364-222218
email – sagarmal.jain@gmail.com

प्रकाशन वर्ष 2014-15

कापीराइट - लेखक
मूल्य - रूपये 200/-

मुद्रक
आकृति ऑफसेट
5, नई पेठ, छत्री चौक के पास
उज्जैन (म.प्र.) फोनः 0734-2561720

प्रकाशकीय

डॉ. सागरमल जैन विद्या के अधिकृत विद्वान हैं। उन्होंने हमारे आग्रह पर "जैन धर्म एवं साहित्य का इतिहास" पर अत्याधिक परिश्रम पूर्वक यह ग्रन्थ तैयार किया है। अब वे अपने जीवन के 83 वें वर्ष में चल रहे हैं, फिर भी जन सामान्य के उपयोग के लिए उनके द्वारा रचित यह ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। ग्रन्थ की भाषा प्रवाह युक्त, सरल एवं सुबोध है। हमें आशा है कि जैन जगत इस कृति का अध्ययन कर जैन विद्या के क्षेत्र में अपने ज्ञान की अभिवृद्धि करेगा।

नरेन्द्र जैन
सचिव
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

स्वकथ्य

जैन धर्म एवं साहित्य के इतिहास पर वैसे तो आज तक अनेक कृतियाँ प्रकाशित हुई है; फिर भी युगीन परिस्थितियों एवं तुलनात्मक ऐतिहासिक गवेषणा को दृष्टि में रखकर इस कृति का प्रणयन किया गया है।

इस सम्पूर्ण प्रयास में मेरा अपना कुछ भी नहीं है। सभी कुछ पं. दलसुखभई आदि गुरुजनों का दिया हुआ है। इसमें मैं अपनी मौलिकता का क्या करूँ? फिर इस ग्रन्थ में मैंने विभिन्न अवधारणाओं के ऐतिहासिक विकास क्रम को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। जैनदर्शन के अन्य ग्रन्थों में प्रायः इस दृष्टि का उतनी गम्भीरता से निर्वाह नहीं हुआ है यही इस कृति की विशेषता है।

यदत्र सौष्ठवं किञ्चिद् गुरुदेव मे नहि।
यदत्रासौष्ठवं किञ्चित् तन्ममैव ते नहि॥

– सागरमल जैन

विभाग 1 (अ)

जैन धर्म एवं साहित्य का इतिहास

जैनदृष्टि मे धर्म मनुष्य की दुविधा–अध्यात्मवाद / भौतिकवाद

आज मनुष्य अशांत, विक्षुब्ध एवं तनावपूर्ण स्थिति में है। बौद्धिक विकास से प्राप्त विशाल ज्ञान-राशि और वैज्ञानिक तकनीक से प्राप्त भौतिक सुख-सुविधा एवं आर्थिक समृद्धि मनुष्य की आध्यात्मिक, मानसिक एवं सामाजिक विपन्नता को दूर नहीं कर पाई है। ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने वाले सहस्त्राधिक विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों के होते हुए भी आज का शिक्षित मानव अपनी स्वार्थपरता और भोग-लोलुपता पर विवेक एवं संयम का अंकुश नहीं लगा पाया है। भौतिक सुख-सुविधाओं का यह अम्बार आज भी उसके मन की मांग को संतुष्ट नहीं कर सका है। आवागमन के सुलभ साधनों ने विश्व की दूरी को कम कर दिया है, किंतु मनुष्य-मनुष्य के बीच हृदय की दूरी आज ज्यादा हो गई है। यह कहीं धर्म के नाम पर तो कहीं जाति एवं वर्ण के नाम एक-दूसरे से कटते चले जा रहे हैं। सुरक्षा के साधनों की यह बहुलता आज भी उसके मन में अभय का विकास नहीं कर पाई है, आज भी वह उतना ही आशंकित, आतंकित और आक्रामक है, जितना आदिम युग में रहा होगा। मात्र इतना ही नहीं, आज विध्वंसकारी शस्त्रों के निर्माण के साथ उसकी यह आक्रामक वृत्ति अधिक विनाशकारी बन गई है और वह शस्त्र-निर्माण की इस दौड़ में सम्पूर्ण मानव जाति की अन्त्येष्टि की सामग्री तैयार कर रहा है। आर्थिक सम्पन्नता की इस अवस्था में भी मनुष्य उतना ही अधिक अर्थलोलुप है, जितना कि वह पहले कभी रहा होगा। आज मनुष्य की इस अर्थलोलुपता ने मानव जाति को शोषक और शोषित ऐसे दो वर्गों में बांट दिया है, जो एक दूसरे को पूरी तरह निगल जाने की तैयारी कर रहे हैं। एक भोगाकांक्षा और तृष्णा की दौड़ में पागल है तो दूसरा पेट की ज्वाला को शांत करने के लिए व्यग्र और विक्षुब्ध। आज विश्व में वैज्ञानिक तकनीक और आर्थिक समृद्धि की दृष्टि से सबसे अधिक

विकसित राष्ट्र यू.एस.ए, मानसिक तनावों एवं आपराधिक पवृत्तियों के कारण सबसे अधिक परेशान है, इससे सम्बंधित आंकड़े चौंकाने वाले हैं। किसी उर्दू शायर ने ठीक ही कहा है -

तालीम का शोर इतना, तहजीब का गुल इतना।
बरकत जो नहीं होती, नीयत की खराबी है॥

आज मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो यह है कि इस तथाकथित सभ्यता के विकास के साथ उसकी आदिम युग की एक सहज, सरल एवं स्वाभाविक जीवन-शैली भी उससे छिन गई है, आज जीवन के हर क्षेत्र में कृत्रिमता और छद्मों का बाहुल्य है। मनुष्य आज न तो अपनी मूलवृत्तियों एवं वासनाओं का शोधन या उदात्तीकरण कर पाया है और न इस तथाकथित सभ्यता के आवरण को बनाए रखने के लिए उन्हें सहज रूप में प्रकट ही कर पा रहा है। उसके भीतर उसका 'पशुत्व' कुलांचें भर रहा है, किंतु बाहर वह अपने को 'सभ्य' दिखाना चाहता है। अंदर वासना की उद्दाम ज्वालाएं और बाहर सच्चरित्रता और सदाशयता का छद्म जीवन, यही आज के मानस की त्रासदी है, पीड़ा है। आसक्ति, भोगलिप्सा, भय, क्रोध, स्वार्थ और कपट की दमित मूलप्रवृत्तियां और उनसे जन्य दोषों के कारण मानवता आज भी अभिशिप्त है, आज वह दोहरे संघर्ष से गुजर रही है - एक आंतरिक और दूसरा बाह्य। आंतरिक संघर्षों के कारण आज उसका मानस तनावयुक्त है, विक्षुब्ध है, तो बाह्य संघर्षों के कारण मानव-जीवन अशांत और अस्त-व्यस्त। आज मनुष्य का जीवन मानसिक तनावों, सांवेगिक असंतुलनों और मूल्य संघर्षों से युक्त है। आज का मनुष्य परमाणु तकनीक की बारीकियों को अधिक जानता है किंतु एक सार्थक सामंजस्यपूर्ण जीवन के आवश्यक मूल्यों के प्रति उसका उपेक्षाभाव है। वैज्ञानिक प्रगति से समाज के पुराने मूल्य ढह चुके हैं और नए मूल्यों का सृजन अभी हो नहीं पाया है। आज हम मूल्यरिक्तता की स्थिति में जी रहे हैं और मानवता नए मूल्यों की प्रसव-पीड़ा से गुजर रही है। आज वह एक निर्णायक मोड़ पर खड़ी हुई है, उसके सामने दो ही विकल्प है - या तो पुनः अपने प्रकृत आदिम जीवन की ओर

लौट जाए या फिर एक नए मानव का सृजन करे, किंतु पहला विकल्प अब न तो सम्भव है और न वरेण्य। अतः आज एक ही विकल्प शेष है - एक नए आध्यात्मिक मानव का निर्माण, अन्यथा आज हम उस कगार पर खड़े हैं, जहां मानव जाति का सर्वनाश हमें पुकार रहा है। यहां जोश का यह कथन कितना मौजूं है -

सफाइयां हो रही हैं जितनी, दिल उतने ही हो रहे हैं मैले।
अंधेरा छा जाएगा जहां में, अगर यही रोशनी रहेगी ॥

इस निर्णायक स्थिति में मानव को सर्वप्रथम यह तय करना है कि आध्यात्मवादी और भौतिकवादी जीवन दृष्टियों में से कौन उसे वर्तमान संकट से उबार सकता है ? जैन धर्म कहता है कि भौतिकवादी दृष्टि मनुष्य की उस भोग-लिप्सा तथा तद्जनित स्वार्थ एवं शोषण की पाशविक प्रवृत्तियों का निरसन करने में सर्वथा असमर्थ है, क्योंकि भौतिकवादी दृष्टि में मनुष्य मूलतः पशु ही है। वह मनुष्य को एक आध्यात्मिक (Spiritual being) न मानकर एक विकसित सामाजिक पशु (Developed social animal) ही मानती है। जबकि जैन धर्म मानव को विवेक और संयम की शक्ति से युक्त मानता है। भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य का निःश्रेयम् उसकी शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक मांगों की संतुष्टि में ही है। वह मानव की भोग-लिप्सा की संतुष्टि को ही उसका चरम लक्ष्य घोषित कर देता है। यद्यपि वह एक आरोपित सामाजिकता के द्वारा मनुष्य की स्वार्थ एवं शोषण की पाशविक वृत्तियों का नियमन करना अवश्य चाहता है, किंतु इस आरोपित सामाजिकता का परिणाम मात्र इतना ही होता है कि मनुष्य प्रत्यक्ष में शांत और सभ्य होकर भी परोक्ष में अशांत एवं उद्दीप्त बना रहता है और उन अवसरों की खोज करता है जब समाज की आंख बचाकर अथवा सामाजिक आदर्शों के नाम पर उसकी पाशविक वृत्तियों को छद्म रूप में खुलकर खेलने का अवसर मिले। भौतिकवाद मानव की पाशविक वृत्तियों के नियंत्रण का प्रयास तो करता है, किंतु वह उस दृष्टि का उन्मूलन नहीं करता है, जो कि इस पाशविक वृत्तियों का मूल उद्गम है। उसका प्रयास जड़ों को सींचकर शाखाओं के काटने का प्रयास है। वह रोग के कारणों को खोजकर उन्हें समाप्त नहीं करता है, अपितु मात्र रोग के लक्षणों को दबाने का प्रयास

करता है। यदि जीवन की मूल दृष्टि भौतिक उपलब्धि और दैहिक वासनाओं की संतुष्टि हो तो स्वार्थ और शोषण का चक्र भी समाप्त नहीं होगा। उसके लिए हमें जीवन के उच्च मूल्यों या आदर्शों को स्वीकार करना होगा। जब तक एक आध्यात्मिक दृष्टि के आधार पर सामाजिकता को विकसित नहीं किया जाता है, तब तक आरोपित सामाजिकता से मानव की स्वार्थ एवं शोषण की वृत्तियों का वास्तविक रूप में निराकरण असम्भव है।

दुःख का मूल ममता

भगवान् महावीर ने इस तथ्य को गहराई से समझा था कि भौतिकवाद मानवीय दुःखों की मुक्ति का सम्यक्-मार्ग नहीं है, क्योंकि वह उस कारण का उच्छेद नहीं कर सकता जिससे दुःख-परम्परा की यह धारा प्रस्फुटित होती है। वे उत्तराध्ययन सूत्र में कहते हैं कि 'कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं जं काइयं माणसियं च किंचि' अर्थात् समस्त भौतिक एवं मानसिक दुःखों का मूल कारण कामासक्ति है। भौतिकवाद के पास इस कामासक्ति या ममत्वबुद्धि को समाप्त करने का कोई उपाय नहीं है। न केवल जैन धर्म ने अपितु लगभग सभी धर्मों ने इस बात को एकमत से स्वीकार किया है कि समस्त दुःखों का मूल कारण आसक्ति, तृष्णा या ममत्वबुद्धि है। यदि हम मानव जाति को स्वार्थ, हिंसा, शोषण, भ्रष्टाचार एवं तद्जनित दुःखों से मुक्त करना चाहते हैं तो हमें भौतिकावादी दृष्टि का परित्याग कर उस आध्यात्मिक दृष्टि का विकास करना होगा जिसके अनुसार भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि ही जीवन का अंतिम लक्ष्य नहीं है। हमें यह मानना होगा कि दैहिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि ही जीवन का अंतिम लक्ष्य नहीं है। दैहिक एवं आर्थिक मूल्यों से परे अन्य उच्च मूल्य भी हैं। आध्यात्म-दृष्टि अन्य कुछ नहीं, अपितु इन उच्च मूल्यों की स्वीकृति है। जैन-धर्म के अनुसार अध्यात्म का अर्थ है - परार्थ को परम मूल्य न मानकर आत्म को परम मूल्य मानना। पदार्थवादी दृष्टि मानवीय दुःखों और सुखों का आधार 'वस्तु' या बाह्य परिस्थिति को मानती है, उसके अनुसार सुख-दुःख वस्तुगत लक्ष्य हैं। अतः भौतिकवादी मानव सुख की लालसा में वस्तुओं के पीछे दौड़ता है और उनके संग्रह हेतु स्तेय, शोषण एवं संघर्ष जैसी सामाजिक बुराइयों को जन्म देता है। इसके विपरीत जैन धर्म या अध्यात्म हमें यह सिखाता है कि सुख–दुःख आत्मकृत हैं। बाहर न कोई शत्रु है

और न कोई मित्र। आत्मा ही अपना मित्र और शत्रु है। सुप्रस्थित आत्मा मित्र है और दुःप्रस्थित आत्मा शत्रु है। अतः सुख–दुःख की खोज पदार्थों में न कर आत्मा में करना है। जैन आचार्य कहते हैं कि यह ज्ञान-दर्शन स्वरूप शाश्वत आत्म तत्व ही अपना है, शेष सभी संयोगजन्य पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं, अपने नहीं हैं। इन सांयोगिक उपलब्धियों में ममत्वबुद्धि दुःख परम्परा का कारण है, अतः आनंद की प्राप्ति हेतु इनके प्रति ममत्वबुद्धि का सर्वथा त्याग करना अपेक्षित है। संक्षेप में देहादि आत्मेतर पदार्थों के प्रति ममत्वबुद्धि का त्याग और भौतिक उपलब्धियों के स्थान पर आत्मोपलब्धि अर्थात् वीतराग दशा की उपलब्धि को जीवन का निःश्रेयस स्वीकार करना अध्यात्मविद्या और जैनधर्म का मूलतत्व है और यही मानव जाति के मंगल का मार्ग है, क्योंकि इसी के द्वारा आधुनिक मानव को आंतरिक एवं बाह्य तनावों से मुक्त कर निराकुल बनाया जा सकता है।

ममता का विसर्जन/दुःख का निराकरण

आध्यात्मिक मूल्यों की स्वीकृति का यह तात्पर्य नहीं है कि शारीरिक एवं भौतिक मूल्यों की पूर्णतया उपेक्षा की जाए। जैन धर्म के अनुसार शारीरिक मूल्य अध्यात्म के बाधक नहीं, साधक हैं। निशीथभाष्य में कहा गया है कि मोक्ष का साधन ज्ञान है, ज्ञान का साधन शरीर है, शरीर का आधार आहार है। शरीर शाश्वत आनंद के कूल पर ले जाने वाली नौका है। इस दृष्टि से उसका मूल्य भी है, महत्व भी है और उसका सार-सम्भाल भी करना है। किंतु ध्यान रहे, दृष्टि नौका पर नहीं, कूल पर होना है, नौका साधन है, साध्य नहीं। भौतिक एवं शारीरिक आवश्यकताओं की एक साधन के रूप में स्वीकृति जैन धर्म और सम्पूर्ण अध्यात्मविद्या का हार्द है। यह वह विभाजक रेखा है, जो अध्यात्म और भौतिकवाद में अंतर स्पष्ट करती है। भौतिकवाद में भौतिक उपलब्धियां या जैविक मूल्य स्वयमेव साध्य हैं, अंतिम हैं, जबकि अध्यात्म में वे किन्हीं उच्च मूल्यों का साधन हैं। जैन धर्म की भाषा में कहें तो साधक का वस्तुओं का त्याग और वस्तुओं का ग्रहण दोनों ही संयम (समत्व) की साधना के लिए हैं। जैन धर्म की सम्पूर्ण साधना का मूल लक्ष्य तो एक ऐसे निराकुल, निर्विकार, निष्काम और वीतराग

मानस की अभिव्यक्ति है, जो कि वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के समस्त तनावों एवं संघर्षों को समाप्त कर सके। उसके सामने मूल प्रश्न दैहिक एवं भौतिक मूल्यों की स्वीकृति या अस्वीकृति का नहीं है, अपितु वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समत्व के संस्थापन का है। अतः जहां तक और जिस रूप में दैहिक और भौतिक उपलब्धियां उसमें साधक हो सकती हैं, वहां तक वे स्वीकार्य हैं और जहां तक वे उसमें बाधक हैं वहां तक त्याज्य हैं। भगवान् महावीर ने आचारांगसूत्र एवं उत्तराध्ययनसूत्र में इस बात को बहुत स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि जब इंद्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क होता है, तब उस सम्पर्क के परिणामस्वरूप सुखद-दुःखद अनुभूति भी होती है और जीवन में यह शक्य नहीं है कि इंद्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क न हो और उसके कारण सुखद या दुःखद न हो, अतः त्याग इंद्रियानुभूति का नहीं अपितु उसके प्रति चित्त में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष का करना है, क्योंकि इंद्रियों के मनोज्ञ या अमनोज्ञ विषय आसक्तचित्त के लिए ही राग-द्वेष (मानसिक विक्षोभों) का कारण बनते हैं, अनासक्त या वीतराग के लिए नहीं। अतः जैन धर्म की मूल शिक्षा ममत्व के विसर्जन की है, जीवन के निषेध की नहीं, क्योंकि उसकी दृष्टि में ममत्व या आसक्ति ही वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की समस्त विषमताओं का मूल है और इसके निराकरण के द्वारा ही मनुष्य के समस्त दुःखों का निराकरण सम्भव है।

धर्म साधना का उद्देश्य है - व्यक्ति को शांति प्रदान करना, किंतु दुर्भाग्य से आज धर्म के नाम पर पारस्परिक संघर्ष पनप रहे हैं - एक धर्म के लोगों को दूसरे धर्म के लोगों से लड़ाया जा रहा है। शांतिप्रदाता धर्म ही आज अशांति का कारण बन गया है। वस्तुतः इसका कारण धर्म नहीं, अपितु धर्म का लबादा ओढ़े अधर्म ही है। हमारा दुर्भाग्य यह है कि हमने 'धर्म के मर्म' को समझा नहीं है। थोथे क्रियाकाण्ड और बाह्य आडम्बर ही धर्म के परिचायक बन गए हैं। आए देखें धर्म का सच्चा स्वरूप क्या है?

धर्म का स्वरूप

धर्म के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा प्रत्येक मानव में पाई जाती है। धर्म क्या है ? इस प्रश्न के आजतक अनेक उत्तर दिए गए हैं, किंतु जैन आचार्यों ने जो उत्तर दिया है वह विलक्षण है तथा गम्भीर विवेचना की अपेक्षा करता है। वे कहते हैं -

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो॥

वस्तु का स्वभाव धर्म है। क्षमा आदि भावों की अपेक्षा से वह दस प्रकार का है। रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र) भी धर्म है तथा जीवों की रक्षा करना भी धर्म है। सर्वप्रथम वस्तु स्वभाव को धर्म कहा गया है, आएं जरा इस पर गम्भीरता से विचार करें। सामान्यतया धर्म शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। हिन्दी भाषा में जब हम कहते हैं कि आग का धर्म जलाना है, पानी का धर्म शीतलता है तो यहां धर्म से हमारा तात्पर्य वस्तु के स्वाभाविक गुणों से होता है। किंतु जब यह कहा जाता है कि दुःखी एवं पीड़ितजनों की सेवा करना मनुष्य का धर्म है अथवा गुरु की आज्ञा का पालन शिष्य का धर्म है तो यहां धर्म का अर्थ होता है कर्तव्य या दायित्व। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि मेरा धर्म जैन है या उसका धर्म ईसाई है, तो हम एक तीसरी ही बात कहते हैं। यहां धर्म का मतलब है किसी दिव्य-सत्ता, सिद्धांत या साधना-पद्धति के प्रति हमारी श्रद्धा, आस्था या विश्वास। अक्सर हम धर्म से यही तीसरा अर्थ लेते हैं। जबकि यह तीसरा अर्थ धर्म का अभिरुढ़ अर्थ है, वास्तविक अर्थ नहीं है। सच्चा धर्म सिर्फ धर्म है, वह न हिन्दू होता है, न जैन, न बौद्ध, न ईसाई, न इस्लाम। ये सब नाम आरोपित हैं। हमारा सच्चा धर्म तो वही है जो हमारा निज-स्वभाव है। इसीलिए जैन आचार्यों ने 'वत्थु सहावो धम्मो' के रूप में धर्म को पारिभाषित किया है। प्रत्येक के लिए जो उसका निज-गुण है, स्व-स्वभाव है, वही धर्म है, स्व-स्वभाव से भिन्न जो भी होगा, वह उसके लिए धर्म नहीं, अधर्म ही होगा। इसीलिए गीता में कहा गया है 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः पराधर्मो भयावहः'

(गीता, 3/35)। परधर्म अर्थात् दूसरे के स्वभाव को इसलिए भयावह कहा गया, क्योंकि वह हमारे लिए स्वभाव न होकर विभाव होगा और जो विभाव है, वह धर्म न होकर अधर्म ही होगा। अतः आपका धर्म वही है जो आपका निज-स्वभाव है। किंतु आप सोचते होंगे कि बात अधिक स्पष्ट नहीं हुई। इससे हम कैसे जान लें कि हमारा धर्म क्या है? वस्तुतः हमें अपने धर्म को समझने के लिए अपने स्वभाव या अपनी प्रकृति को जानना होगा। किंतु यहां यह बात भी समझ लेनी होगी कि अनेक बार हम आरोपित या पराश्रित गुणों को भी अपना स्वभाव या प्रकृति मान लेते हैं। अतः हमें स्वभाव और विभाव में अंतर को समझ लेना है। स्वभाव वह है, जो स्वतः (अपने आप) होता है और विभाव वह है, जो दूसरे के कारण होता है, जैसे पानी में शीतलता स्वाभाविक है, किंतु उष्णता वैभाविक है, क्योंकि उसके लिए उसे आग के संयोग की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में, जिसे होने के लिए किसी बाहरी तत्व की अपेक्षा है वह सब विभाव है, पर-धर्म है। शीतलता पानी का धर्म है और जलाना आग का धर्म है। पुनः जिस गुण को छोड़ा जा सकता है वह उस वस्तु का धर्म नहीं हो सकता है। किंतु जो गुण पूरी तरह छोड़ा नहीं जा सकता है वही उस वस्तु का स्व-धर्म होता है। आग चाहे किसी भी रूप में हो वह जलाएगी ही, पानी चाहे आग के संयोग से कितना ही गरम क्यों न हो यदि उसे आग पर डालेंगे तो वह आग को शीतल ही करेगा। आप सोचते होंगे कि आग और पानी की धर्म की इस चर्चा से मनुष्य के धर्म को हम कैसे जान पाएंगे ? यहां इस चर्चा की उपयोगिता यही है कि हम स्वभाव और विभाव का अंतर समझ लें, क्योंकि अनेक बार हम आरोपित गुणों को ही स्वभाव मानने की भूल कर बैठते हैं, अक्सर हम कहते हैं उसका स्वभाव क्रोधी है। प्रश्न यह उठता है कि क्या क्रोध स्वभाव है या हो भी सकता है ? बात ऐसी नहीं है। इस कसौटी पर क्रोध और शांति के दो गुणों को कसिए और देखिए, इनमें से मनुष्य का स्वधर्म क्या है? पहली बात तो यह है कि क्रोध कभी स्वतः नहीं होता, बिना किसी बाहरी कारण के हम क्रोध नहीं करते हैं। गुस्से या क्रोध का कोई न कोई बाह्य

कारण अवश्य होता है, गुस्सा कभी अकारण नहीं होता है। साथ ही गुस्से के लिए किसी दूसरे का होना जरुरी है, गुस्सा या क्रोध बिना किसी प्रतिपक्षी के स्वतः नहीं होता है, अकेले में नहीं होता है। किसी गुस्से से भरे आदमी को अकेले में ले जाइए, आप देखेंगे उसका गुस्सा धीरे-धीरे शांत हो रहा है - गुस्से के बाह्य कारणों एवं प्रतिपक्षी के दूर हो जाने पर गुस्सा ठहर नहीं सकता है। पुनः गुस्सा आरोपित है, वह छोड़ा जा सका है, कोई भी व्यक्ति चौबीसों घंटे क्रोध की स्थिति में नहीं रह सकता, किंतु शांत रह सकता है। अतः मनुष्य के लिए क्रोध विधर्म है, अधर्म है और शांति स्वधर्म है, निजगुण है। क्या धर्म है और क्या अधर्म है, इसका निर्णय इसी पद्धति से सम्भव है।

हमारे सामने मूल प्रश्न तो यह है कि मनुष्य का धर्म क्या है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें मानव-प्रकृति या मानव-स्वभाव को जानना होगा। जो मनुष्य का स्वभाव होगा वही मनुष्य के लिए धर्म होगा। हमें यह विचार करना है कि एक मनुष्य के रूप में हम क्या हैं ? मानव अस्तित्व द्विआयमी (Two Dimensional) है। मनुष्य विवेकात्मक चेतना से युक्त एक शरीर है। शरीर और चेतना यह हमारे अस्तित्व के दो प्रश्न हैं, किंतु इसमें भी हमारे अस्तित्व का मूल आधार जीवन एवं चेतना ही है, चेतन-जीवन के अभाव में शरीर का कोई मूल्य नहीं है। शरीर का महत्व तो है, किंतु वह उसकी चेतन-जीवन से युति पर निर्भर है। चेतन-जीवन स्वतः मूल्यवान् है और शरीर परतः मूल्यावान् है। जिस प्रकार कागजी मुद्रा का स्वयं में कोई मूल्य नहीं होता उसका मूल्य सरकार की साख पर निर्भर करता है, उसी प्रकार शरीर का मूल्य चेतन-जीवन की शक्ति पर निर्भर करता है। हमारे अस्तित्व का सार हमारी चेतना है। चेतन-जीवन ही वास्तविक जीवन है। चेतना के अभाव को 'शव' कहा जाता है। चेतना ही एक ऐसा तत्व है जो 'शव' को शिव बना देता है। अतः जो चेतना का स्वभाव होगा वही हमारा वास्तविक धर्म होगा। हमें अपने 'धर्म' को समझने के लिए 'चेतना' के स्वलक्षण को जानना होगा। चेतना क्या है? इस प्रश्न का उत्तर हमें भगवान् महावीर और गौतम के बीच हुए एक सम्वाद में मिलता है।

गौतम पूछते हैं- भगवन् ! आत्मा क्या है? और आत्मा का अर्थ या साध्य क्या है? महावीर उत्तर देते हैं- गौतम ! आत्मा का स्वरूप 'समत्व' है और 'समत्व' को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का साध्य है (भगवतीसूत्र)। यह बात न केवल दार्शनिक दृष्टि से सत्य है अपितु जीवनशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सत्य है। जीवशास्त्र (Biology) के अनुसार चेतनजीव का लक्षण आंतरिक और बाह्य संतुलन को बनाए रखना है। फ्रायड नामक सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक का कथन है - चैत्त जीवन और स्नायुजीवन का स्वभाव यह है कि वह विक्षोभ और तनाव को मिटाकर समत्व की स्थापना करता है। विक्षोभ, तनाव और मानसिक द्वंद्वों से ऊपर उठकर शांत, निर्द्वंद्व मनः स्थिति को प्राप्त करना यह हमारी स्वाभाविक अपेक्षा है और यही धर्म है।

विश्व के लगभग सभी धर्मों ने समाधि, समभाव या समता को धार्मिक जीवन का मूलभूत लक्षण माना है। आचारांगसूत्र में 'समियाए धम्मे आरियेहिं पवेइए' (1/8/3) कहकर धर्म को 'समता' के रूप में परिभाषित किया गया है। समता धर्म है, विषमता अधर्म है। वस्तुतः वे सभी तत्व जो हमारी चेतना में विक्षोभ, तनाव या विचलन उत्पन्न करते हैं अर्थात् चेतना के संतुलन को भंग करते हैं, विभाव के सूचक हैं, इसीलिए अधर्म हैं। अक्सर हम राग-द्वेष, घृणा, आसक्ति, ममत्व, तृष्णा, काम, क्रोध, अहंकार आदि को अधर्म (पाप) कहते हैं और क्षमा, शांति, अनासक्ति, निर्वैरता, वीतरागता, विरागता, निराकुलता आदि को धर्म कहते हैं, ऐसा क्यों है? बात स्पष्ट है। प्रथम वर्ग के तथ्य जहां हमारी आकुलता को बढ़ाते हैं, हमारे मन में विक्षोभ और चेतना में तनाव (Tension) उत्पन्न करते हैं वहीं दूसरे वर्ग के तथ्य उस आकुलता, विक्षेभि या तनाव को कम करते हैं, मिटाते हैं। पूर्वोक्त गाथा में क्षमादि भावों को जो धर्म कहा गया है, उसका आधार यही है।

मानसिक विक्षोभ या तनाव हमारा स्वभाव या स्वलक्षण इसलिए नहीं माना जा सकता है क्योंकि हम उसे मिटाना चाहते हैं, उसका निराकरण करना चाहते हैं और जिसे आप छोड़ना चाहते हैं, मिटाना चाहते हैं, वह

आपका स्वभाव नहीं हो सकता। पुनः राग, आसक्ति, ममत्व, अहंकार, क्रोध आदि सभी 'पर' की अपेक्षा करते हैं, उनके विषय 'पर' हैं। उनकी अभिव्यक्ति अन्य के लिए होती है। राग, आसक्ति या ममत्व किसी पर होगा। इसी प्रकार क्रोध या अहंकार की अभिव्यक्ति भी दूसरे के लिए है। इन सबके कारण सदैव ही बाह्य जगत् में होते हैं, ये स्वतः नहीं होते, परतः होते हैं। इसीलिए ये आत्मा के विभाव कहे जाते हैं और जो भी विभाव हैं, वे सब अधर्म हैं। जबकि जो स्वभाव है या विभाव से स्वभाव की ओर लौटने के प्रयास हैं वे सब धर्म हैं। भाषाशास्त्र की दृष्टि से धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है - धारण करना। सामान्यतया जो प्रजा को धारण करता है, वह धर्म है, 'धर्मो धारयते प्रजा'। इस रूप में धर्म को परिभाषित किया जाता है, किंतु मेरी दृष्टि में जो हमारे अस्तित्व या सत्ता के द्वारा धारित है अथवा जिसके आधार, अस्तित्व या सत्ता रही हुई है वही 'धर्म' है। किसी भी वस्तु का धर्म वही है जिसके कारण वह वस्तु उस वस्तु के रूप में अपना अस्तित्व रखती है और जिसके अभाव में उसकी सत्ता ही समाप्त हो जाती है। उदाहरण के लिए विवेक और संयम के गुणों के अभाव में मनुष्य और पशु में कोई अंतर नहीं रहेगा, यदि विवेक और संयम के गुण हैं तो ही मनुष्य, मनुष्य है।

यदि हम मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी मानते हैं और धर्म को 'धर्मो धारयते प्रजा' के अर्थ में लेते हैं तो उस स्थिति में धर्म का अर्थ होगा - जो हमारी समाज-व्यवस्था को बनाए रखता है, वही धर्म है। वे सब बातें जो सामाजिक जीवन में बाधा उपस्थित करती हैं और हमारे स्वार्थों को पोषण देकर हमारी सामाजिकता को खण्डित करती हैं, सामाजिक जीवन में अव्यवस्था और अशांति में कारणभूत होती हैं, अधर्म हैं। इसीलिए तृष्णा, विद्वेष, हिंसा, शोषण, स्वार्थपरता आदि को अधर्म और परोपकार, करुणा, दया, सेवा आदि को धर्म कहा गया है, क्योंकि जो मूल्य हमारी सामाजिकता की स्वाभाविकवृत्ति का रक्षण करते हैं, वे धर्म हैं और उसे जो खण्डित करते हैं, वे अधर्म हैं। यद्यपि धर्म की यह व्याख्या दूसरों के संदर्भ में हैं, इसे

समाज-धर्म कह सकते हैं।

स्वभाव या आत्मधर्म ऐसा तत्व है जो बाहर से लाया नहीं जाता है, वह तो विभाव के हटते ही स्वतः प्रकट हो जाता है जैसे आग के संयोग के हटते ही पानी स्वतः शीतल हो जाता है, वैसे ही धर्म के लिए कुछ करना नहीं होता, केवल अधर्म को छोड़ना होता है, विभावदशा को दूर करना होता है, क्योंकि उसे ही छोड़ा या त्यागा जा सकता है जो आरोपित होता है और विभाव होगा, स्वभाव नहीं। धर्म साधना के नाम पर जो भी प्रयास हैं, वे सब अधर्म को त्यागने के लिए है, विभाग-दशा को मिटाने के लिए हैं धर्म तो आत्मा की शुद्धता है, उसे लाना नहीं है, क्योंकि वह बाहरी नहीं है, केवल विषय कषाय रूपी मल को हटाना है। जैसे बादल के हटते प्रकाश स्वतः प्रकट हो जाता है वैसे ही अधर्म या विभाव के हटते धर्म या स्वभाव प्रकट हो जाता है। इसीलिए धर्म ओढ़ा नहीं जाता है, धर्म जिया जाता है। अधर्म आरोपित होता है, वह एक दोहरा जीवन प्रस्तुत करता है, क्योंकि उसके पापखण्ड भी दोहे होते हैं। अधार्मिकजन दूसरों से अपने प्रति जिस व्यवहार की अपेक्षा करता है, दूसरों के प्रति उसके ठीक विपरीत करना चाहता है। इसीलिए धर्म की कसौटी आत्मवत् व्यवहार माना गया। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां मा समाचरेत्' के पीछे भी यही ध्वनि रही है। धर्म का सार है - निश्छलता, सरलता, स्पष्टता, जहां भी इनका अभाव होगा, वहां धर्म को जिया नहीं जाएगा अपितु ओढ़ा जाएगा। वहां धर्म नहीं, धर्म का दम्भ पनपेगा और हमें याद रखना होगा कि वह धर्म का दम्भ अधार्मिकता से अधिक खतरनाक है। क्योंकि इसमें अधर्म, धर्म की पोषाक को ओढ़ लेता है, वह दिखता धर्म है, किंतु होता है अधर्म। मानव जाति का दुर्भाग्य यही है कि आज धर्म के नाम पर जो कुछ चल रहा है वह सब आरोपित है, ओढ़ा गया है और इसीलिए धर्म के नाम पर अधर्म पनप रहा है। आज धर्म को कितने ही थोथे और निष्प्राण कर्मकाण्डों से जोड़ दिया गया है, क्या पहनें और क्या नहीं पहनें, क्या खाएं और क्या नहीं खाएं, प्रार्थना के लिए मुंह किस दिशा में करें और किस दिशा में नहीं करें, प्रार्थना की भाषा क्या हो,

पूजा के द्रव्य क्या हों? आदि आदि। ये सब बातें धर्म का शरीर हो सकती हैं, क्योंकि ये शरीर से गहरे नहीं जाती हैं, किंतु निश्चय ही ये धर्म की आत्मा नहीं है। धर्म की आत्मा तो है-समाधि, शांति, निराकुलता। धर्म तो सहज और स्वाभाविक है। दुर्भाग्य यही है कि आज लोग धर्म के नाम पर बहुत कुछ कर रहे हैं परंतु अधर्म या विभावदशा को छोड़ नहीं रहे हैं। आज धर्म को ओढ़ा जा रहा है, इसीलिए आज का धर्म निरर्थक बन गया है। यह कार्य तो ठीक वैसा ही है जैसे किसी दुर्गंध को स्वच्छ सुगंधित आवरण से ढक दिया गया हो। यह बाह्य प्रतीति से सुंदर होती है किंतु वास्तविकता कुछ और ही होती है। यह तथाकथित धर्म ही धर्म के लिए सबसे बड़ा खतरा है, इसमें अधर्म को छिपाने के लिए धर्म किया जाता है। आज धर्म के नाम पर जो कुछ किया जा रहा है उसका कोई लाभ नहीं मिल रहा है। आज हमारी दशा ठीक वैसी ही है जैसे कोई रोगी दवा तो ले किंतु कुपत्य को छोड़े नहीं। धर्म के नाम पर आत्म-प्रवंचना एवं छलछद्म पनप रहा है, इसका मूल कारण है धर्म के सारतत्व के बारे में हमारा गहरा अज्ञान। हम धर्म के बारे में जानते हैं किंतु धर्म को नहीं जानते हैं।

आज हमने आत्म-धर्म क्या है, हमारा निजगुण या स्वभाव क्या है, इसे समझा ही नहीं है और निष्प्राण कर्मकाण्डों और रीतिरिवाजों को ही धर्म मान बैठे हैं। आज हमारे धर्म चौके-चूल्हे में , मंदिरों-मस्जिदों और उपासना गृहों में सीमित हो गए हैं, जीवन से उनका कोई सम्पर्क नहीं है। इसीलिए वह जीवित धर्म नहीं, मुर्दा धर्म है। किसी शायर ने ठीक ही कहा है -

मस्जिद तो बना दी पर भर में इमां की हरारत वालों ने।
मन वही पुराना पापी रहा, बरसों में नमाजी न हो सका।।

आज धर्म के नाम पर जो भी किया जाता है उसका सम्बंध परलोक से जोड़ा जाता है। आज धर्म उधार सौदा बन गया है और इसीलिए आज धर्म से आस्था उठती जा रही है। किंतु याद रखिए वास्तविक धर्म उधार सौदा नहीं, नकद सौदा है। उसका फल तत्काल है। भगवान् बुद्ध से किसी

ने पूछा कि धर्म का फल इस लोक में मिलता है या परलोक में? उन्होंने कहा था - धर्म का फल तो उसी समय मिलता है। जैसे ही मोह टूटता है, तृष्णा छूटती है, चाह और चिंता कम हो जाती है, मन शांति और आनंद से भर जाता है, यही तो धर्म का फल है। हम यदि अपनी अंतरात्मा से पूछें कि हम क्या चाहते हैं? उत्तर स्पष्ट है हमें सुख चाहिए, शांति चाहिए, समाधि या निराकुलता चाहिए और जो कुछ आपकी अंतरात्मा आपसे मांगती है वही तो आपका स्वभाव है, आपका धर्म है। जहां मोह होगा, राग होगा, तृष्णा होगी, आसक्ति होगी, वहां चाह बढ़ेगी, जहां चाह बढ़ेगी, वहां चिंता बढ़ेगी और जहां चिंता होगी वहां मानसिक असमाधि या तनाव होगा और जहां मानसिक तनाव या विक्षोभ है वहीं तो दुःख है, पीड़ा है। जिस दुःख को मिटाने की हमारी ललक है उसकी जड़ें हमारे अंदर हैं, किंतु दुर्भाग्य यही है कि हम उसे बाहर के भौतिक साधनों से मिटाने का प्रयास करते रहे हैं। यह तो ठीक वैसा ही हुआ जैसे घाव कहीं और हो और मलहम कहीं और लगाएं। अपरिग्रहवृत्त या अनासक्ति को जो धर्म कहा गया, उसका आधार यही है कि वह ठीक उस जड़ पर प्रहार करता है, जहां से दुःख की विषवेल फूटती है, आकुलता पैदा होती है। वह धर्म इसीलिए है कि वह हमें आकुलता से निराकुलता की दिशा में, विभाव से स्वभाव की दिशा में ले जाती है। किसी कवि ने कहा है -

चाह गई, चिंता मिटी मनुआ भया बेपरवाह।
जिसको कुछ न चाहिए, वह शहंशाहों का शहंशाह।।

निराकुलता एवं आकुलता ही धर्म और अधर्म की सीधी और साफ कसौटी है। जहां आकुलता है, तनाव है, असमाधि है, वहां अधर्म है और जहां निराकुलता है, शांति है, समाधि है, वहां धर्म है। जिन बातों से व्यक्ति में अथवा उनके सामाजिक परिवेश में आकुलता बढ़ती है, तनाव पैदा होता है, अशांति बढ़ती है, विषमता बढ़ती है, वे सब बातें अधर्म हैं, पाप हैं। इसके विपरीत जिन बातों से व्यक्ति में और उसके सामाजिक परिवेश में निराकुलता आए, शांति आए, तनाव घटे, विषमता समाप्त हो, वे सब धर्म

हैं। धार्मिकता के आदर्श के रूप में जिस वीतराग, वीततृष्णा और अनासक्त जीवन की कल्पना की गई है, उसका अर्थ यही है कि जीवन में निराकुलता, शांति और समाधि आए। धर्म का सार यही है, फिर चाहे हम इसे कुछ भी नाम क्यों न दें। श्री सत्यनारायणजी गोयनका कहते हैं -

धर्म न हिन्दू बौद्ध है, धर्म न मुस्लिम जैन।
धर्म चित्त की शुद्धता, धर्म शांति सुख चैन॥
कुदरत का कानून है, सब पर लागू होय।
विकृत मन व्याकुल रहे, निर्मल सुखिया होय॥
यही धर्म की परख है, यही धर्म का माप।
जन-मन का मंगल करे, दूर करे संताप॥

जिस प्रकार मलेरिया, मलेरिया है, वह न जैन है, न बौद्ध है न हिन्दू और न मुसलमान, उसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आध्यात्मिक विकृतियां हैं, वे भी हिन्दू, बौद्ध या जैन नहीं हैं, हम ऐसा नहीं कहते हैं कि यह हिन्दू क्रोध है यह जैन या बौद्ध क्रोध है। यदि क्रोध हिन्दू, बौद्ध या जैन नहीं है तो फिर उसका उपशमन भी हिन्दू, बौद्ध या जैन नहीं कहा जा सकता है। विकार, विकार है और स्वास्थ्य, स्वास्थ्य है, वे हिन्दू, बौद्ध या जैन नहीं हैं। जिन्हें हम हिन्दू, जैन, बौद्ध या अन्य किसी धर्म के नाम से पुकारते हैं, वह विकारों के उपचार की शैली विशेष है जैसे एलोपैथी, आयुर्वेदिक, यूनानी, होम्योपैथी आदि शारीरिक रोगों के उपचार की पद्धति है।

समता धर्म/ममता अधर्म

धर्म क्या है? इस प्रश्न का सबसे संक्षिप्त और सरल उत्तर यही है कि वह सब धर्म है, जिसमें मन की आकुलता समाप्त हो, चाह और चिंता मिटे तथा मन निर्मलता, शांति, समभाव और आनंद से भर जाए। इसीलिए महावीर ने धर्म को समता या समभाव के रूप में परिभाषित किया था। समता ही धर्म है और ममता अधर्म है। वीतराग, अनासक्त और वीततृष्णा होने में जो धार्मिक आदर्श की परिपूर्णता देखी गई, उसका कारण भी यही है कि

यह आत्मा की निराकुलता या शांति की अवस्था है। आत्मा की इसी निराकुल दशा को हिन्दू और बौद्ध परम्परा में समाधि तथा जैन परम्परा में सामायिक या समता कहा गया है। हमारे जीवन में धर्म है, या नहीं है इसको जानने की एकमात्र कसौटी यह है कि सुख–दुःख, मान-अपमान, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि की अनुकूल एवं प्रतिकूल अवस्थाओं में हमारा मन कितना अनुद्विग्न और शांत बना रहता है। यदि अनुकूल परिस्थितियों में मन में संतोष न हो चाह और चिंता बनी रहे तथा प्रतिकूल स्थितियों में मन दुःख और पीड़ा से भर जावे तो हमें समझ लेना चाहिए कि जीवन में अभी धर्म नहीं आया है। धर्म का सीधा सम्बंध हमारी जीवनदृष्टि और जीवनशैली से है। बाह्य परिस्थितियों से हमारी चेतना जितनी अधिक अप्रभावित और अलिप्त रहेगी उतना ही जीवन में धर्म का प्रकटन होगा। क्योंकि मनुष्य के लिए यह सम्भव नहीं है कि उसके जीवन्न में उतार और चढ़ाव नहीं आए। सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, मान-अपंमान आदि ये जीवन-चक्र के दुर्निवार पहलू हैं, कोई भी इनसे बच नहीं सकता। जीवन-यात्रा का रास्ता सीधा और सपाट नहीं है, उसमें उतार-चढ़ाव आते ही रहते हैं। बाह्य परिस्थितियों पर आपका अधिकार नहीं है, आपके अधिकार में केवल एक ही बात है, वह यह कि आप इन अनुकूल और प्रतिकूल स्थिलियों में अपने मन को, अपनी चेतना को निराकुल और अनुद्विग्न बनाए रखें, मानसिक समता और शांति को भंग नहीं होने दें। यही धर्म है। श्री गोयनका जी के शब्दों में -

सुख दुःख आते ही रहें, ज्यों आवे दिन रैन।
तू क्यों खोवे बावला, अपने मन की चैन।।

अतः मन की चैन नहीं खोना ही धर्म और धार्मिकता है। जो व्यक्ति जीवन की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपनी चित्त की शांति नहीं खोता है, वही धार्मिक है उसी के जीवन में धर्म का अवतरण हुआ है। कौन धार्मिक है और कौन अधार्मिक है, इसकी पहचान यही है कि किसका चित्त शांत है और किसका अशांत। जिसका चित्त या मन अशांत है वह अधर्म में जी रहा है, विभाव में जी रहा है और जिसका मन या चित्त शांत

है वह धर्म में जी रहा है, स्वभाव में जी रहा है। एक सच्चे धार्मिक पुरुष की जीवनदृष्टि अनुकूल एवं प्रतिकूल संयोगों में कैसी होगी इसका एक सुंदर चित्रण उर्दू शायर ने किया है, वह कहता है -

लायी हयात आ गये, कजा ले चली चले चले।
न अपनी खुशी आये, न अपनी खुशी गये।।

जिंदगी और मौत दोनों ही स्थितियों में जो निराकुलता और शांत बना रहता है वही धार्मिक है, धर्म का प्रकटन उसी के जीवन में हुआ है। धार्मिकता की कसौटी पर नहीं है कि तुमने कितना पूजा-पाठ किया है, कितने उपवास और रोजे रखे हैं, अपितु यही है कि तुम्हारा मन कितना अनुद्विग्न और निराकुल बना है। जीवन में जब तक चाह और चिंता बनी हुई है धार्मिकता का आना सम्भव नहीं है। फिर वह चाह और चिंता परिवार की हो या शिष्य-शिष्याओं की, घर और दुकान की हो, मठ और मंदिर की, धन-सम्पत्ति की हो या पूजा-प्रतिष्ठा की, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता है।

जब तक जीवन में तृष्णा और स्पृहा है, दूसरों के प्रति जलन की भट्टी सुलग रही है, धार्मिकता सम्भव नहीं है। धार्मिक होने का मतलब है मन की उद्विग्नता या आकुलता समाप्त हो, मन से घृणा, विद्वेष और तृष्णा की आग शांत हो। इसीलिए गीता कहती है-

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।। गीता 2/56।

जिसका मन दुःखों की प्राप्ति में भी दुःखी नहीं होता और सुख की प्राप्ति में जिसकी लालसा तीव्र नहीं होती है, जिसके मन में ममता, भय और क्रोध समाप्त हो चुके हैं वही व्यक्ति धार्मिक है, स्थित बुद्धि है, मुनि है। वस्तुतः चेतना जितनी निराकुल बनेगी उतना ही जीवन में धर्म का प्रकटन होगा। क्योंकि यह निराकुलता या समता ही हमारा निज-धर्म है, स्व-स्वभाव है। आकुलता का मतलब है आत्मा की 'पर' (पदार्थों) में उन्मुखता और निराकुलता का मतलब 'पर' से विमुख होकर स्व में स्थिति। इसीलिए जैन परम्परा में पर-परिणति को अधर्म और आत्म-परिणति को धर्म कहा गया

है।

चेतना और मन की निराकुलता हमारा निज-धर्म या स्व-स्वभाव इसीलिए है कि यह हमारी स्वाभाविक मांग है, स्वाश्रित है अर्थात् अन्य किसी पर निर्भर नहीं है। आपकी चाह, आपकी चिंता, आपके मन की आकुलता सदैव ही अन्य पर आधारित है, पराश्रित है, ये पर वस्तु के संयोग से उत्पन्न होती है और उन्हीं के आधार पर बढ़ती है एवं जीवित रहती है। समता (निराकुलता) स्वाश्रित है इसीलिए स्वधर्म है, जबकि समता और तज्जनित आकुलता पराश्रित है, इसीलिए विधर्म, अधर्म है। जो स्वाश्रित या स्वाधीन है वही आनंद को प्राप्त कर सकता है, जो पराश्रित या पराधीन है उसे आनंद और शांति कहां? यहां हमें यह समझ लेना चाहिए कि पदार्थों के प्रति ममत्वभाव और उनके उपभोग में अंतर है। धर्म उनके उपभोग का विरोध नहीं करता है अपितु उनके प्रति ममत्वं-बुद्धि या ममता के भाव का विरोध करता है। जो पराया है उसे अपना समझ लेना, मान लेना अधर्म है, पाप है, क्योंकि इसी से मानसिक शांति और चेतना का समत्व भंग होता है, आकुलता और तनाव उत्पन्न होते हैं। इसे भी शास्त्रों में अनात्म में आत्म-बुद्धि या परपरिणति कहा गया है। जिस प्रकार संसार में वह प्रेमी दुःखी होता है जो किसी ऐसी स्त्री से प्रेम कर बैठता है जो उसकी अपनी होकर रहने वाली नहीं है, उसी प्रकार उन पदार्थों के प्रति जिनका वियोग अनिवार्य है, ममता रखना ही दुःख का कारण है और जो दुःख का कारण है वही अधर्म है, पाप है। आदरणीय गोयनकाजी ने बहुत ही सुंदर बात कही है -

सुख-दुःख दोनों एक से, मान और अपमान।
चित्त विचलित होए नहीं, तो सच्चा कल्याण॥
जीवन में आते रहें, पतझड़ और बसंत।
मन की समता न छूटे, तो सुख-शांति अनन्त॥
विषम जगत् में चित्त की, समता रहे अटूट।
तो उत्तम मंगल जगे, होय दुःखों में छूट॥

समता स्वभाव है और ममता विभाव है। ममता छूटेगी तो समता अपने आप आ जाएगी। स्वभाव बाहरी नहीं है, अतः उसे लाना भी नहीं है, मात्र विभाव को छोड़ना है। रोग या बीमारी हटेगी तो स्वस्थता तो आएगी ही। इसलिए प्रयत्न बीमारी को हटाने के लिए करना है। जिस प्रकार बीमारी बनी रहे और आप पुष्टिकारक पथ्य लेते रहे तो वह लाभकारी नहीं होता है, उसी प्रकार जब तक मोह और ममता बनी रहेगी, समता जीवन में प्रकट नहीं होगी। जब मोह और ममता के बादल छटेंगे तो समता का सूर्य स्वतः ही प्रकट हो जाएगा। जब मोह और ममता की चट्टानें टूटेंगी तो समता के शीतल जल का झरना स्वतः ही प्रकट होगा। जिसमें स्नान करके युग-युग का ताप शीतल हो जाएगा।

मानव धर्म

धर्म क्या है? इस प्रश्न पर अभी तक हमने इस दृष्टिकोण से विचार किया था कि एक चेतन सत्ता के रूप में हमारा धर्म क्या है? अब हम इस दृष्टि से विचार करेंगे कि मनुष्य के रूप में हमारा धर्म क्या है? दूसरे प्राणियों से मनुष्य को जिन मनोवैज्ञानिक आधारों से अलग कर सकते हैं, वे हैं- आत्मचेतनता, विवेकशीलता और आत्मसंयम। मनुष्य के अलावा दूसरे प्राणियों में इन गुणों का अभाव देखा जाता है। मनुष्य न केवल चेतन है, अपितु आत्मचेतन है। उसकी विशेषता यह है कि उसे अपने ज्ञान की, अपनी अनुभूति की अथवा अपने भावावेशों की भी चेतना होती है। मनुष्य जब क्रोध या काम की भाव-दशा में होता है तब भी यह जानता है कि मुझे क्रोध हो रहा है या काम सता रहा है। पशु को क्रोध होता है किंतु वह यह नहीं जानता कि मैं क्रोध में हूं। उसका व्यवहार काम से प्रेरित होता है किंतु वह यह नहीं जानता है कि काम मेरे व्यवहार की प्रेरित कर रहा है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से पशु का व्यवहार मात्र मूलप्रवृत्यात्मक (Instinctive) है, जो अंधप्रेरणा मात्र है, किंतु मनुष्य का जीवन प्रेरणा से चालित न होकर विचार या विवेक से प्रेरित होता है। उसमें आत्मचेतनता है।

मनुष्य और पशु में सबसे महत्वपूर्ण अंतर आत्मचेतनता के सम्बंध

में है। जहां भी व्यवहार और आचरण मात्र मूल-प्रवृत्ति या अंधप्रेरणा से चालित होता है वहां मनुष्यत्व नहीं, पशुत्व ही प्रधान होता है, ऐसा मानना चाहिए। मनुष्य की मनुष्यता इसी में है कि अपने व्यवहार और आचरण के प्रति उसमें आत्मचेतनता या सजगता हो। यही सजगता उसे पशुत्व से पृथक् करती है। मनुष्य की ही यह विशेषता है कि वह अपने विचारों, अपनी भावनाओं और अपने व्यवहार का द्रष्टा या साक्षी है। उसमें ही यह क्षमता है कि कर्ता और द्रष्टा दोनों की भूमिकाओं में अपने को रख सकता है। वह अभिनेता और दर्शक दोनों ही है। उसका हित इसी में है कि वह अभिनय करके भी अपने दर्शक होने की भूमिका को नहीं भूले। यदि उसमें यह आत्मचेतनता अथवा द्रष्टा-भाव या साक्षी-भाव नहीं रहता है तो हम यह कह सकते हैं कि उसमें मनुष्यता की अपेक्षा पशुता ही अधिक है। मनुष्य में परमात्मा और पशु दोनों ही उपस्थित हैं। वह जितना आत्मचेतन या अपने प्रति सजग बनता है, उसमें उतना ही परमात्मा का प्रकटन होता है और जितना असावधान रहता है, भावना और वासनाओं के अंध प्रवाह में बहता है, उतना ही पशुता के निकट होता है। जो हमें परमात्मा के निकट ले जाता है वही धर्म है और जो पशुता के निकट ले जाता है वही अधर्म है। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि एक मनुष्य के रूप में आत्मचेतनता मनुष्य का वास्तविक धर्म है। इसी आत्मचेतनता को ही शास्त्रों में अप्रमाद कहा गया है। मनुष्य जिस सीमा तक आत्मचेतन है, अपने ही विचारों, भावनाओं और व्यवहारों का दर्शक है उसी सीमा तक वह मनुष्य है, धार्मिक है, क्योंकि वह आत्मचेतन होना या आत्मद्रष्टा होना ऐसा आधार है जिससे मानवीय विवेक और सदाचरण का विकास सम्भव है। बीमारी से छुटकारा पाने के लिए पहले उसी बीमारी के रूप में देखना और जानना जरूरी है। यही आत्मचेतनता अथवा साक्षी-भाव या द्रष्टा-भाव ही एक ऐसा तत्व है जिस पर धर्म की आधारशिला खड़ी हुई है। जैन आगमों में अप्रमाद को धर्म (अकर्म) और प्रमाद को अधर्म (कर्म) कहा गया है। प्रमाद का सीधा और साफ अर्थ है आत्मचेतनता या आत्मजागृति का अभाव। अप्रमत्त वही है जो

मनोभावों और प्रवृत्तियों का द्रष्टा है। मनुष्य की मनुष्यता और धार्मिकता इसी बात में है कि वह सदैव अपने आचार और विचार के प्रति सजग रहे। प्रत्येक क्रिया के प्रति हमारी चेतना सजग होनी चाहिए। खाते समय खाने की चेतना और चलते समय चलने की चेतना, क्रोध में क्रोध की चेतना और काम में काम की चेतना बनी रहना आवश्यक है। आप जो भी कर रहे हैं उसके प्रति यदि आप पूरी तरह आत्मचेतन हैं तो ही आप सही अर्थ में धार्मिक हैं। जिसे हम सम्यक् - दर्शन कहते हैं मेरी धारणा में उसका अर्थ यही आत्मदर्शन या आत्मजागृति अथवा द्रष्टा एवं साक्षी-भाव की स्थिति है। आत्मचेतन या अप्रमत्त या आत्मद्रष्टा होने का मतलब है खुद के अंदर झांकना, अपनी वृत्तियों, अपने विचारों एवं अपनी भावनाओं को देखना। सरल शब्दों में कहें तो जो अपने मन के नाटक को देखता है वही आत्मद्रष्टा या आत्मचेतन है। जो अपने कर्मों के प्रति, अपने विचारों के प्रति साक्षी या द्रष्टा नहीं बन सकता वह धार्मिक भी नहीं बन सकता है। भगवान् बुद्ध ने इसी आत्मचेतनता को स्मृति के रूप में पारिभाषित किया है। सम्यक् - स्मृति बौद्ध धर्म के साधनामार्ग का एक महत्वपूर्ण चरण है। भगवान् बुद्ध ने साधकों को बार-बार यह निर्देश दिया है कि अपनी स्मृति को सदैव जागृत बनाए रखो। धम्मपद में वे कहते हैं- अपमादो अमत पदं पमादो मच्चुनो पदं' अर्थात् अप्रमाद ही अमृत पद है, अमरता का मार्ग है और प्रमाद मृत्यु का। स्मृतिवान होना, सजग, अप्रमत्त होना यह धर्म और धार्मिकता की आवश्यक कसौटी है। आचारांग में भगवान् महावीर ने एक बहुत ही सुंदर बार कही है - 'सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरन्ति' अर्थात् जो सोया हुआ है, सजग या आत्मचेतन नहीं है वह अमुनि है और जो सजग है, जागृत है, आत्मचेतन है वह मुनि है। मनुष्य की यह विशेषता है कि वह अपने प्रति सजग या आत्मचेतन रह सकता है, अपने अंदर झांक सकता है, चेतना में स्थित विषय वासना रूपी गंदगी को देख सकता है। आत्मद्रष्टा या आत्मचेतन होने का मतलब यही है कि हम अपने में निहित या उत्पन्न होने वाली वासनाओं, भावावेशों, विषय-विकारों, राग-द्वेष की वृत्तियों एवं क्रोध, मान, माया,

लोभादि कषायों के प्रति सजग रहें, सावधान रहें, उन्हें देखते रहें। समकालीन मानवतावादी विचारकों में वारनर फिटे ऐसे विचारक हैं, जो यह मानते हैं कि आत्मचेतनता (Selfawareness) ही एक ऐसी स्थिति है जिसे किसी कर्म की नैतिकता और अनैतिकता की कसौटी माना जा सकता है। यद्यपि यहां कोई यह प्रश्न उठा सकता है कि क्या आत्मचेतना के साथ या पूरी सजगता के साथ किया जाने वाला हिंसादि कर्म धार्मिक या नैतिक होगा? वस्तुतः इस सम्बंध में हमें एक भ्रांति को दूर कर लेना चाहिए। व्यक्ति जितना आत्म-चेतन बनता है, अपने प्रति सजग बनता है, वह भावावेशों से ऊपर उठता जाता है। पूर्ण आत्मचेतना की स्थिति में आवेश या आवेग नहीं रह पाएंगे और आवेश के अभाव में हिंसा सम्भव नहीं है। अतः आत्मचेतनता के साथ हिंसा का कर्म सम्भव ही नहीं होगा। अनुभव और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों ही इस बात का समर्थन करते हैं कि दुष्कर्म जितना बड़ा होगा, उसे करते समय व्यक्ति उतने ही भावावेश में होगा। हत्याएं, बलात्कार आदि सभी दुष्कर्म भावावेशों में ही सम्भव होते हैं। वासना का आवेग जितना तीव्र है, आत्मचेतना उतनी ही धूमिल होती है, कुण्ठित होती है और उसी स्थिति में पाप का या बुराइयों का उद्भव होता है। रागाभाव, ममत्व, आसक्ति, तृष्णा आदि को इसीलिए पाप और अधर्म के मूल माने गए हैं, क्योंकि ये आवेगों को उत्पन्न कर हमारी सजगता को कम करते हैं। जब भी व्यक्ति काम में होता है, क्रोध में होता है लोभ में होता है अपने आप को भूल जाता है, उसके आवेग इतने तीव्र बनते जाते हैं कि वह आत्मविस्मृत होता जाता है, अपना आपा खो बैठता है, अतः वे सब बातें जो आत्म-विस्मृति लाती हैं पाप मानी गई हैं, अधर्म मानी गई हैं। वस्तुतः धर्म और अधर्म की एक कसौटी यह है कि जहां आत्म-विस्मृति है वहां अधर्म है और जहां आत्म-स्मृति है, आत्म चेतना है, सजगता है, वहां धर्म है।

दूसरी बात, जिस आधार पर हम मनुष्य और पशु में कोई अंतर कर सकते हैं और जिसे मानव की विशेषता या स्वभाव कहा जा सकता है वह है विवेकशीलता। अक्सर मनुष्य की परिभाषा हम एक बौद्धिक प्राणी के

रूप में करते हैं और मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है तो यह विवेक या ज्ञान का तत्व ही एक ऐसा तत्व है जो इसे पशु से पृथक् कर सकता है। कहा भी गया हैं -

आहारनिद्राभयमैथुनंच सामान्यमेतद् पशुभिः नाराणाम्।
ज्ञानो ही तेषां अधिको विशेषो, ज्ञानेन हीना नरः पशुभिः समाना॥

हम से यह पूछा जा सकता है कि यह विवेकशीलता क्या है? वस्तुतः यदि हम सरल भाषा में कहें तो किसी भी क्रिया के करने के पूर्व उसके सम्भावित अच्छे और बुरे परिणामों पर विचार कर लेना ही विवेक है। हम जो कुछ करने जा रहे हैं या कर रहे हैं उसका परिणाम हमारे लिए या समाज के लिए हितकर है या अहितकर इस बात का विचार कर लेना ही विवेक है। यदि आप अपने प्रत्येक आचरण को सम्पादित करने के पहले उसके परिणामों पर पूरी सावधानी के साथ विचार करते हैं तो आप विवेकशील मानें जा सकते हैं। जिसमें अपने हिताहित या दूसरों के हिताहित को समझने की शक्ति है वहीं विवेकशील या धार्मिक हो सकता है। जो व्यक्ति अपने और दूसरों के हिताहितों पर पूर्व में विचार नहीं करता है वह कभी भी धार्मिक नहीं कहला सकता। यह बात बहुत स्पष्ट है कि जो व्यक्ति अपने प्रत्येक आचरण को करने के पहले तौलेगा, उसके हिताहित का विचार करेगा वह कभी भी दुराचरण, अधर्म और अनैतिकता की ओर अग्रसर नहीं हो सकेगा। इसलिए हम कह सकते हैं कि विवेकशील होना मनुष्य का एक महत्वपूर्ण गुण है और जिस सीमा तक उसमें इस गुण का विकास हुआ है उसी सीमा तक उसमें धार्मिकता है। वस्तुतः जहां जीवन में विवेकशीलता होगी वहां धर्म के नाम पर पनपने वाले छलछद्म अंधश्रद्धा तथा ढोंग और आडम्बर अपने आप ही समाप्त हो जाएंगे। यदि हमें धार्मिक होना है तो हमें सबसे पहले विवेकी बनना होगा। जो व्यक्ति सजग नहीं है, जो अपने आचरण और व्यवहार के हिताहित का विचार नहीं करता है वह कदापि धार्मिक नहीं कहा जा सकता। जहां भी व्यक्ति में सजगता और विचारशीलता का अभाव है, वहीं अधर्म की सम्भावनाएं हैं। यदि हम आत्मचेतनता को सम्यक् - दर्शन

कहें तो विवेकशीलता को सम्यक् - ज्ञान कहा जा सकता है। जब हमारे आचरण के साथ आत्मचेतनता और विवेकशीलता जुड़ेगी तभी हमारा आचरण धार्मिक बनेगा।

विवेक एक ऐसा तत्व है जो प्रत्येक आचार और व्यवहार का देश, काल और परिस्थिति के संदर्भ में सम्यक् मूल्यांकन करता है। विवेक शक्ति के मूल्यांकन की क्षमता का परिचायक है। विवेक एक ऐसी क्षमता है जो सम्पूर्ण परिस्थिति को दृष्टि में रखकर आचरण के परिणामों का निष्पक्ष मूल्यांकन करती है जीवन में जब विवेक का विकास होता है, तो दूसरों के दुःख और पीड़ा का आत्मवत् दृष्टि से मूल्यांकन होता है स्वार्थवृत्ति क्षीण होने लगती है, समता का विकास होता है और जीवन में धर्म का प्रकटन होता है। इस प्रकार विवेक धर्म और धार्मिकता का आवश्यक लक्षण है। धर्म और धार्मिकता का विकास विवेक की भूमि पर ही सम्भव है, अतः विवेक धर्म है।

आप धार्मिक हैं या नहीं? इसकी सीधी और साफ पहचान यही है कि आप किसी क्रिया को करने के पूर्व उसके परिणामों पर सम्यक् रूप से विचार करते हैं। क्या आप अपने हितों और दूसरों के हितों का समान रूप से मूल्यांकन करते हैं? यदि इन प्रश्नों का उत्तर सकारात्मक है तो निश्चय ही आप धार्मिक हैं। विवेक के आलोक में विकसित आत्मवत् - दृष्टि ही धर्म और धार्मिकता का आधार है।

मनुष्य और पशु में तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण अंतर इस बात को लेकर है कि मनुष्य में संयम की शक्ति है, वह अपने आचार और व्यवहार को नियंत्रित कर सकता है। यदि हम पशु का जीवन देखें तो हमें लगेगा कि वे एक प्राकृतिक जीवन जीते हैं। पशु तभी खाता है जब भूखा होता है। पशु के लिए यह सम्भव नहीं है कि भूखा होने पर खाद्य-सामग्री की उपस्थिति में वह उसे न खाए। किंतु मनुष्य के आचरण की एक विशेषता है, वह भूखा होते हुए भी और खाद्य-सामग्री के उपलब्ध होते हुए भी भोजन करने से इंकार कर देगा, दूसरी ओर मनुष्य के लिए यह भी सम्भव है कि भरपेट

भोजन के बाद भी वह सुस्वादु पदार्थ उपलब्ध होने पर उन्हें खा लेता है। इस प्रकार मनुष्य में एक ओर आत्मसंयम की सम्भावनाएं हैं तो दूसरी ओर वासनाओं से प्रेरित हो कर वह एक अप्राकृतिक जीवन भी जी सकता है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि यदि कोई मनुष्य की विशेषता हो सकती है तो वह उसमें निहित आत्म-नियंत्रण या संयम का सामर्थ्य है। इसीलिए कहा गया है कि मनुष्य में जैविक आवेग तो बहुत हैं, आवश्यकता इस बात की है कि उसके आवेगों को कैसे नियंत्रित किया जाए? जैविक आवेगों के अनियंत्रण का जीवन अधर्म का जीवन है। मनुष्य का धर्म और धार्मिकता इसी में है कि वह आत्मचेतन होकर विवेकशीलता के साथ अपनी वासनाओं को संयमित करे। यदि वह इतना कर पाता है तो ही उसे हम धार्मिक कह सकते हैं। मनुष्य के धार्मिक होने का मतलब है उसकी चेतना सजग रहे और उसका विवेक वासनाओं को नियंत्रित करता रहे।

मनुष्य का सामाजिक धर्म

धर्म को जब हम वस्तु स्वभाव के रूप में ग्रहण करते हैं तो हमारे सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि एक मनुष्य के रूप में हमारा धर्म क्या है? मनुष्य का मूल स्वभाव मनुष्यता ही हो सकता है, लेकिन प्रश्न है कि मनुष्यता से हमारा क्या तात्पर्य है? वह कौन सा तत्व है जो मनुष्य को पशु से भिन्न करता है। इस सम्बंध में चर्चा करते हुए हमने देखा था कि आत्मचेतना (Self Awarencess), विवेक और संयम ये तीन ऐसे तत्व हैं जो मनुष्य को अपनी उपस्थिति के कारण पशु से ऊपर उठा देते हैं।

इन सबके साथ ही एक और विशिष्ट गुण मनुष्य का है जो उसे महनीयता प्रदान करता है, वह है उसकी सामाजिक चेतना। पाश्चात्य विचारकों ने मनुष्य की परिभाषा एक सामाजिक प्राणी के रूप में की है। सामाजिकता मनुष्य का एक विशिष्ट गुण है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है (चरळिी रीलिळरश्र रळिारश्र) वैसे तो सामूहिक जीवन पशुओं में भी पाया जाता है, किंतु मनुष्य की यह सामूहिक जीवन-शैली उनसे कुछ भिन्न है। पशुओं में पारस्परिक सम्बंध तो होते हैं किंतु उन्हें उन सम्बंधों की चेतना

नहीं होती है। मनुष्य जीवन की विशेषता यह है कि उसे उन पारस्परिक सम्बंधों की चेतना होती है और उसी चेतना के कारण उसमें एक-दूसरे के प्रति दायित्व-बोध और कर्तव्य-बोध होता है। पशुओं में भी पारस्परिक हित साधन की प्रवृत्ति तो होती है, किंतु वह एक अंध मूलप्रवृत्ति है। उस अंध-प्रवृत्ति के अनुसार ही आचरण करने में पशु विवश होता है। उसके सामने यह विकल्प नहीं होता कि वह वैसा आचरण करे या नहीं करे। किंतु इस सम्बंध में मानवीय-चेतना स्वतंत्र होती है। उसमें अपने दायित्व-बोध की चेतना होती है। किसी उर्दू शायर ने कहा भी है -

वह आदमी ही क्या है, जो दर्द आशना न हो !
पत्थर से कम है, दिल शरर गर निहा नहीं !

जैनाचार्य उमास्वाति ने भी न केवल मनुष्य का, अपितु समस्त जीवन का लक्षण पारस्परिक हित साधन को माना है। तत्वार्थसूत्र में कहा है - 'परस्परोपग्रहोजीवानाम्।' एक दूसरे के कल्याण में सहयोगी बनना यही जीवन की विशिष्टता है। इसी अर्थ में हम कह सकते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और दूसरे मनुष्यों एवं प्राणियों का हित साधन उसका धर्म है। धार्मिक होने का एक अर्थ यह है कि हम एक-दूसरे के सहयोगी बनें। दूसरे के दुःख और पीड़ा को अपनी पीड़ा समझें तथा उसके निराकरण का प्रयत्न करें। जैन आगम आचारांगसूत्र में धर्म की परिभाषा करते हुए बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है -

'सवे सत्ता ण हंतव्वा,
एस धम्मे णिइए, सासए समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए'

'अर्थात् भूतकाल में जो अर्हत् हुए हैं, वर्तमानकाल में जो अर्हत् हैं और भविष्यकाल में जो अर्हत होंगे, वे सभी एक ही संदेश देते हैं कि किसी प्राणी की, किसी सत्व की हिंसा नहीं करनी चाहिए, उसका घात नहीं करना चाहिए, उसे पीड़ा नहीं पहुंचानी चाहिए, यही एकमात्र शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है।' इस धर्म की लोक-कल्याणकारी चेतना का प्रस्फुटन लोक की पीड़ा के निवारण के लिए ही हुआ है और यही धर्म का सारतत्व है। कहा

है -

यही है इबादत, यही है दीनों इमां।
कि काम आए दुनिया में, इंसा के इंसा॥

दूसरों की पीड़ा को समझकर उसके निवारण का प्रयत्न करना, यही धर्म की मूल आत्मा हो सकती है। संत तुलसीदास जी ने भी कहा है -

परहित सरिस धरम नहिं भाई, परपीड़ा सम नहीं अधमाई।

अहिंसा की चेतना का विकास तभी सम्भव है, जब मनुष्य में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना का विकास होगा। जब हम दूसरों के दर्द को अपना दर्द समझेंगे तभी हम लोकमंगल की दिशा में अथवा परपीड़ा के निवारण की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे। परपीड़ा की यह आत्मानुभूति भी वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ होनी चाहिए। हम दूसरों की पीड़ा के मूक दर्शक न रहें। ऐसा धर्म और ऐसी अहिंसा, जो दूसरों की पीड़ा की मूक दर्शक बनी रहती है, वस्तुतः वह न धर्म है और न अहिंसा। अहिंसा केवल दूसरों को पीड़ा न देने तक सीमित नहीं है, उसमें लोकमंगल और लोककल्याण का अजस्त्र-स्त्रोत भी प्रवाहित है। जब लोक-पीड़ा अपनी पीड़ा बन जाती है, तभी धार्मिकता का स्त्रोत अंदर से प्रवाहित होता है। तीर्थंकरों, अर्हतों और बुद्धों ने जब लोक-पीड़ा की यह अनुभूति आत्मनिष्ठ रूप में की, तो वे लोककल्याण के लिए सक्रिय बन गए। जब दूसरों की पीड़ा और वेदना हमें अपनी लगती है तब लोककल्याण भी दूसरों के लिए न होकर अपने ही लिए हो जाता है। उर्दू शायर अमीर ने कहा है-

खंजर चले किसी पे, तड़पते हैं हम मीर।
सारे जहां का दर्द, हमारे ज़िगर में है॥

जब सारे जहां का दर्द किसी के हृदय में समा जाता है तो वह लोककल्याण के मंगलमयमार्ग पर चल पड़ता है। उसका यह चलना बाहरी नहीं होता है। उसके सारे व्यवहार में अंतश्चेतना काम करती है और यही

अंतश्चेतना धार्मिकता का मूल उत्स (Essence) है, इसे ही दायित्व-बोध की सामाजिक चेतना कहा जाता है। जब यह दायित्व-बोध की सामाजिक चेतना जाग्रत होती है, तो मनुष्य में धार्मिकता प्रकट होती है। दूसरों के प्रति आत्मीयता के भाव का जाग्रत होना ही धार्मिक बनने का सबसे पहला उपक्रम है।

यदि हमारे जीवन में दूसरों की पीड़ा, दूसरों का दर्द अपना नहीं बना है तो हमें यह निश्चित ही समझ लेना चाहिए कि हममें धर्म का अवतरण नहीं हुआ है। दूसरों की पीड़ा की आत्मनिष्ठ अनुभूति से जागृत दायित्व-बोध की अंतश्चेतना के बिना सारे धार्मिक क्रिया-कांण्ड, पाखण्ड या ढोंग हैं। उनका धार्मिकता से दूर का रिश्ता नहीं है। जैन धर्म के सम्यक् - दर्शन, जो कि धार्मिकता की आधारभूमि है- के जो पांच अंग माने गए हैं, उनमें समभाव और अनुकम्पा सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। सामाजिक दृष्टि से समभाव का अर्थ है- दूसरों को अपने समान समझना। क्योंकि अहिंसा एवं लोककल्याण की अंतश्चेतना का उद्भव इसी आधार पर होता है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि 'जिस प्रकार मैं जीना चाहता हूं, मरना नहीं चाहता हूं उसी प्रकार संसार के सभी प्राणी जीवन के इच्छुक हैं और मृत्यु से भयभीत हैं, जिस प्रकार मैं सुख की प्राप्ति चाहता हूं और दुःख से बचना चाहता हूं उसी प्रकार विश्व के सभी प्राणी सुख के इच्छुक हैं और दुःख से दूर रहना चाहते हैं।' यही वह दृष्टि है जिस पर अहिंसा का, धर्म का और नैतिकता का विकास होता है।

जब तक दूसरों के प्रति हमारे मन में समभाव अर्थात् समानता का भाव, जागृत नहीं होता, अनुकम्पा नहीं आती अर्थात् उनकी पीड़ा हमारी पीड़ा नहीं बनती तब तक सम्यक् - दर्शन का उदय भी नहीं होता, जीवन में धर्म का अवतरण नहीं होता। असर लखनवी का यह निम्न शेर इस सम्बंध में कितना मौजूं है -

ईमां गलत उसूल गलत, इद्दुआ गलत।
इंसां की दिलदिही, अगर इंसां न कर सकें।।

जैन–धर्म का संक्षिप्त इतिहास आदिकाल से लेकर आज तक

जैनधर्म एक जीवित धर्म है और कोई भी जीवित धर्म देश और कालगत परिवर्तनों से अछूता नहीं रहता है। जब भी किसी धर्म के इतिहास की बात करते हैं, तो हमें यह समझ लेना चाहिए कि हम किसी स्थिर धर्म की बात नहीं करतें, क्योंकि किसी स्थिर धर्म का इतिहास ही नहीं होता है। इतिहास तो उसी का होता है जो गतिशील है, परिवर्तनशील है। जो लोग यह मानते हैं कि जैनधर्म अपने आदिकाल से आज तक यथास्थिति में रहा है, वे बहुत ही भ्रान्ति में हैं। जैनधर्म के इतिहास की इस चर्चा के प्रसंग में मैं उन परम्पराओं की और उन परिस्थितियों की चर्चा भी करना चाहूँगा, जिसमें अपने सुदूर अतीत से लेकर वर्त्तमान तक जैनधर्म ने अपनी करवटें बदली हैं और जिनमें उसका उद्‌भव और विकास हुआ है ।

यद्यपि जनसंख्या की दृष्टि से आज विश्व में प्रति एक हजार व्यक्तियों में मात्र छह व्यक्ति जैन हैं, फिर भी विश्व के धर्मों के इतिहास में जैनधर्म का अपना एक विशिष्ट स्थान है, क्योंकि वैचारिक उदारता, दार्शनिक गम्भीरता, लोकमंगल की उत्कृष्ट भावना, विपुल साहित्य और उत्कृष्ट शिल्प की दृष्टि से विश्व के धर्मों के इतिहास में इसका अवदान महत्वपूर्ण है। यहाँ हम इस परम्परा को इतिहास के आइने में देखने का प्रयास करेंगे।

प्राचीन श्रमण या आर्हत्–परम्परा

विश्व के धर्मों की मुख्यतः सेमेटिक धर्म, और आर्यधर्म ऐसी दो शाखाएँ हैं। सेमेटिक धर्मों में यहूदी, ईसाई और इस्लाम आते हैं, जबकि आर्य धर्मों में पारसी, हिन्दू (वैदिक), बौद्ध और जैनधर्म की गणना की जाती है। इनके अतिरिक्त सुदूर पूर्व के देशों जापान और चीन में विकसित कुछ धर्म कन्फूशियस एवं शिन्तो के नाम से जाने जाते हैं।

आर्य धर्मों के इस वर्ग में जहाँ हिन्दूधर्म के वैदिक–स्वरूप को प्रवृत्तिमार्गी माना जाता है, वहाँ जैनधर्म और बौद्धधर्म को संन्यासमार्गी या निवृत्तिपरक कहा जाता है। यह निवृत्तिपरक संन्यासमार्गी परम्परा प्राचीन

काल में श्रमण परम्परा, आर्हत्–परम्परा या व्रात्य परम्परा के नाम से जानी जाती थी। जैन और बौद्ध– दोनों ही धर्म इसी आर्हत्, व्रात्य या श्रमण परम्परा के धर्म हैं। श्रमण परम्परा की विशेषता यह है कि वह सांसारिक एवं ऐहिक–जीव की दुःखमयता को उजागर कर संन्यास एवं वैराग्य के माध्यम से निर्वाण या मोक्ष की प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य निर्धारित करती है। इस निवृत्तिमार्गी श्रमण–परम्परा ने तप एवं योग की अपनी आध्यात्मिक–साधना एवं शीलों या व्रतों के रूप में नैतिक–मूल्यों की संस्थापना की दृष्टि से भारतीय–धर्मों के इतिहास में अपना विशिष्ट अवदान प्रदान किया है। इस प्राचीन श्रमण परम्परा में न केवल जैन और बौद्ध धारायें ही सम्मिलित हैं, अपितु औपनिषदिक और सांख्य–योग की धारायें भी सम्मिलित हैं, जो आज बृहद् हिन्दूधर्म का ही एक अंग बन चुकी हैं। इनके अतिरिक्त, आजीवक आदि अन्य कुछ धाराएँ भी थीं, जो आज विलुप्त हो चुकी हैं। आज श्रमण परम्परा के जीवन्त धर्मों में बौद्धधर्म और जैनधर्म अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। यद्यपि बौद्धधर्म भारत में जन्मा और विकसित हुआ और यहीं से उसने सुदूरपूर्व में अपने पैर ज मे ये, फिर भी भारत में वह एक हजार वर्ष तक विलुप्त ही रहा, किन्तु यह शुभ संकेत है, श्रमणधारा का यह धर्म भारत में पुनः स्थापित हो रहा है। जहाँ तक आर्हत् या श्रमणधारा के जैनधर्म का प्रश्न है, यह भारतभूमि में अतिप्राचीन काल से आज तक अपना अस्तित्व बनाये हुए है। अग्रिम पृष्ठों में हम इसी के इतिहास की चर्चा करेंगे।

भारतीय इतिहास के आदिकाल से ही हमें श्रमणधारा के अस्तित्व के संकेत उपलब्ध होते हैं, फिर चाहे वह मोहनजोदड़ों और हड़प्पा से प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्री हो या ऋग्वेद जैसा प्राचीनतम साहित्यिक ग्रन्थ हो। एक ओर मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से प्राप्त अनेक सीलों पर हमें ध्यानस्थ योगियों के अंकन प्राप्त होते हैं, तो दूसरी ओर ऋग्वेद में अर्हत्, व्रात्य या आर्हत् परम्परा के अस्तित्व के प्रमाण हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आज प्रचलित जैनधर्म 'शब्द' का इतिहास अधिक पुराना नहीं है। यह शब्द ईसा की छठी–सातवीं शती से प्रचलन में है। इसके पूर्व जैनधर्म के लिये 'निर्ग्रन्थ धर्म' या आर्हत्–धर्म ऐसे दो

शब्द प्रचलित रहे हैं। इनमें भी 'निर्ग्रन्थ' शब्द मुख्यतः भगवान् पार्श्व और भगवान् महावीर की परम्परा का वाचक रहा है, किन्तु जहां तक आर्हत् शब्द का सम्बन्ध है, यह मूल में एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता था। आर्हत् शब्द अर्हत् या अरहन्त के उपासकों का वाचक था और सभी श्रमण परम्पराएं, चाहे वे जैन हो, बौद्ध हों या आजीवक हों, अरहन्त की उपासक रही हैं, अतः वे सभी परम्पराएं आर्हत्–वर्ग में ही अन्तर्भूत थीं। ऋग्वैदिक काल में आर्हत् (श्रमण) और बार्हत् (वैदिक)– दोनों का अस्तित्व था और आर्हत् या व्रात्य–श्रमणधारा के परिचायक थे, किन्तु कालान्तर में जब कुछ श्रमण–परम्पराएं लुप्त हो गई तथा बौद्ध परम्परा विदेशों में अपना अस्तित्व रखते हुये भी इस भारतभूमि से नामशेष हो गई तो आर्हत् शब्द भी सिमटकर मात्र जैन–परम्परा का वाचक हो गया। इस प्रकार, आर्हत्, व्रात्य, श्रमण आदि शब्द अति प्राचीन काल से जैनधर्म के भी वाचक रहे हैं। यही कारण है कि जैन धर्म को आर्हत् धर्म, श्रमण धर्म या निवृत्तिमार्गी–धर्म भी कहा जाता है। किन्तु यहाँ हमें यह ध्यान रखना है कि आर्हत्, व्रात्य, श्रमण आदि शब्द अति प्राचीन काल से जैनधर्म के साथ अन्य निवृत्तिमार्गी धर्मों के भी वाचक रहे हैं, जबकि निर्ग्रन्थ या ज्ञातपुत्रीय श्रमण जैनों के परिचायक हैं। आगे हम श्रमणधारा या निवृत्तिमार्गी धर्म, जिसका एक अंग जैनधर्म भी है, के उद्भव, विकास और उसकी विशेषताओं की चर्चा करना चाहेंगे।

श्रमणधारा का उद्भव

मानव–अस्तित्व द्वि–आयामी एवं विरोधाभासपूर्ण है। यह स्वभावतः परस्पर विरोधी दो भिन्न केन्द्रों पर स्थित है। वह न केवल शरीर है, और न केवल चेतना, अपितु दोनों की एक विलक्षण एकता है। यही कारण है कि उसे दो भिन्न स्तरों पर जीवन जीना होता है। शारीरिक–स्तर पर वह वासनाओं से चालित है और यहाँ उस पर यान्त्रिक–नियमों का आधिपत्य है, किन्तु चैतसिक–स्तर पर वह विवेक से शासित है, यहाँ उसमें संकल्प–स्वातन्त्र्य है। मनोविज्ञान की भाषा में, जहाँ एक ओर वह वासनात्मक अहं से अनुशासित है, तो दूसरी ओर आदर्शात्मा से प्रभावित भी है। वासनात्मक अहं उसकी शारीरिक–माँगों की अभिव्यक्ति का प्रयास

है, तो आदर्शात्मा उसका आध्यात्मिक–स्वभाव है, उसका निज स्वरूप है, जो निर्द्वन्द्व एवं निराकुल चैतसिक समत्व की अपेक्षा करता है। उसके लिये इन दोनों में से किसी की भी पूर्ण उपेक्षा सम्भव नहीं है। उसके जीवन की सफलता इनके बीच सन्तुलन बनाने में निहित है। उसके वर्त्तमान अस्तित्व के ये छोर हैं। उसकी जीवनधारा इन दोनों का स्पर्श करते हुए इनके बीच बहती है। मानव अस्तित्व के इन दोनों पक्षों के कारण धर्म के क्षेत्र में भी दो धाराओं का उद्‌भव हुआ– **1. वैदिकधारा और 2. श्रमणधारा**

श्रमणधारा के उद्‌भव के मनोवैज्ञानिक–आधार

मानव–जीवन में शारीरिक–विकास वासना को और चैतसिक–विकास विवेक को जन्म देता है। प्रदीप्त–वासना अपनी सन्तुष्टि के लिये 'भोग' की अपेक्षा रखती है, तो विशुद्ध–विवेक अपने अस्तित्व के लिये 'संयम' या 'विराग' की अपेक्षा करता है, क्योंकि सराग–विवेक सही निर्णय देने में अक्षम होता है। वस्तुतः, वासना भोगों पर जीती है और विवेक विराग पर। यहीं दो अलग–अलग जीवन दृष्टियों का निर्माण होता है। एक का आधार वासना या भोग होता है, तो दूसरी का आधार विवेक और विराग। श्रमण–परम्परा में इनमें से पहली को मिथ्या–दृष्टि और दूसरी को सम्यक्–दृष्टि के नाम से अभिहित किया गया है। उपनिषदों में इन्हें क्रमशः प्रेय और श्रेय के मार्ग कहे गये हैं। 'कठोपनिषद्' में ऋषि कहता है कि प्रेय ओर श्रेय–दोनों ही मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं, उसमें से मन्द–बुद्धि शारीरिक योग–क्षेम अर्थात् प्रेय को और विवेकी पुरुष श्रेय को चुनता है। वासना की तुष्टि के लिये भोग और भोगों के साधनों की उपलब्धि के लिये कर्म अपेक्षित है। इसी भोगप्रधान जीवन–दृष्टि से कर्म–निष्ठा का विकास हुआ है। दूसरी ओर विवेक के लिये विराग (संयम) और विराग के लिये आध्यात्मिक जीवन–दृष्टि या त्याग–मार्ग का विकास हुआ।

इनमें पहली धारा से प्रवर्त्तक धर्म का और दूसरी से निवर्त्तक धर्म का उद्‌भव हुआ। प्रवर्त्तक धर्म का लक्ष्य भोग ही रहा, अतः उसने अपनी साधना का लक्ष्य सुविधाओं की उपलब्धि को ही बनाया। जहाँ ऐहिक–

जीवन में उसने धन–धान्य, पुत्र, सम्पत्ति आदि की कामना की, वहीं पारलौकिक–जीवन में स्वर्ग (भौतिक सुख–सुविधाओं की उच्चतम अवस्था) की प्राप्ति को मानव–जीवन का चरम लक्ष्य घोषित किया। पुनः, आनुभविक–जीवन में जब मनुष्य ने यह देखा कि अलौकिक एवं प्राकृतिक–शक्तियॉ उसकी सुख–सुविधाओं की उपलब्धि के प्रयासों को सफल या विफल बना सकती हैं, अतः उसने यह माना कि उसकी सुख–सुविधाएँ उसके अपने पुरुषार्थ पर नहीं, अपितु इन शक्तियों की कृपा पर निर्भर हैं, तो वह इन्हें प्रसन्न करने के लिये एक ओर इनकी स्तुति और प्रार्थना करने लगा, तो दूसरी ओर उन्हें बलि और यज्ञों के माध्यम से भी सन्तुष्ट करने लगा। इस प्रकार, प्रवर्त्तक–धर्म में दो शाखाओं का विकास हुआ – 1. श्रद्धाप्रधान भक्ति–मार्ग और 2. यज्ञ–याग–प्रधान कर्म–मार्ग।

दूसरी ओर, निष्पाप और स्वतन्त्र जीवन जीने की उमंग में निर्वत्तक धर्म में निर्वाण या मोक्ष अर्थात् वासनाओं एवं लौकिक–एषणाओं से पूर्ण मुक्ति को मानव–जीवन का लक्ष्य माना और इस हेतु ज्ञान और विराग को प्रधानता दी, किन्तु ज्ञान और विराग का यह जीवन सामाजिक एवं पारिवारिक–व्यस्तताओं के मध्य सम्भाव नहीं था, अतः निवर्त्तक–धर्म मानव को जीवन के कर्म–क्षेत्र से कहीं दूर निर्जन वनखण्डों और गिरि–कन्दराओं में ले गया। उसमें जहाँ एक ओर दैहिक–मूल्यों एवं वासनाओं के निषेध पर बल दिया गया, जिससे वैराग्यमूलक तप–मार्ग का विकास हुआ, वहीं दूसरी ओर, उस निवृत्तिमूलक जीवन में चिन्तन और विमर्श के द्वार खुले, जिज्ञासा का विकास हुआ, जिससे चिन्तनप्रधान ज्ञान–मार्ग का उद्भव हुआ। इस प्रकार, निवर्त्तक–धर्म भी दो शाखाओं में विभक्त हो गया– 1. ज्ञान–मार्ग एवं 2. तप–मार्ग।

मानव–प्रकृति के दैहिक और चैतसिक पक्षों के आधार पर प्रवर्त्तक और निवर्त्तक धर्मों के विकास की इस प्रक्रिया को निम्न सारिणी के माध्यम से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है–

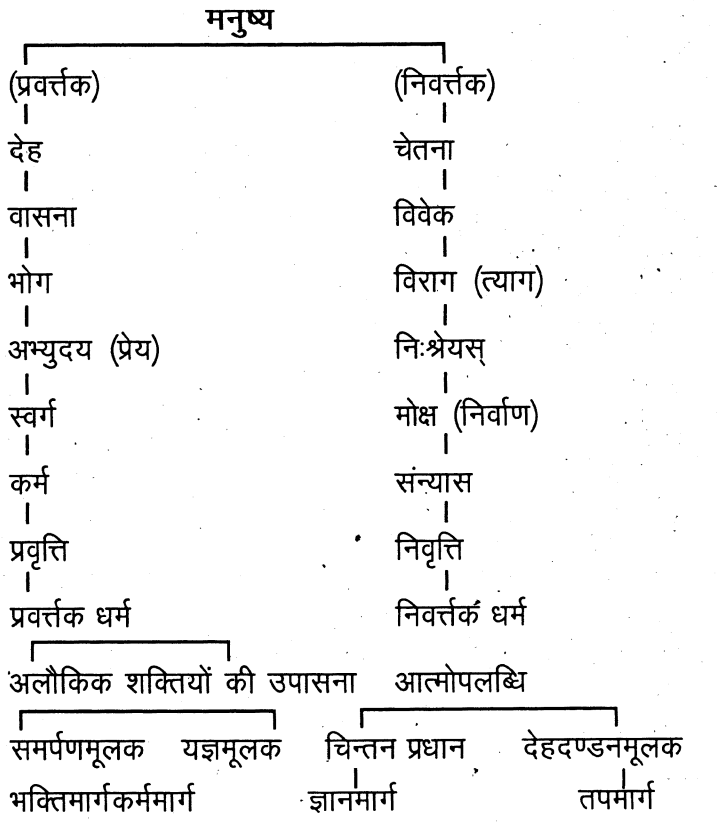

निवर्त्तक (श्रमण) एवं प्रवर्त्तक (वैदिक) धर्मों के दार्शनिक एवं सांस्कृतिक–प्रदेय

प्रवर्त्तक और निर्वत्तक धर्मों का यह विकास भिन्न–भिन्न मनोवैज्ञानिक आधारों पर हुआ था, अतः यह स्वाभाविक था कि उनके दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय भिन्न–भिन्न हों। प्रवर्त्तक एवं निवर्त्तक धर्मों के इन प्रदेयों और उनके आधार पर उनमें रही हुई पारस्परिक भिन्नता को निम्न सारणी से स्पष्टतया समझा जा सकता है–

प्रवर्त्तक धर्म	निवर्त्तक धर्म
1. जैविक मूल्यों की प्रधानता	1. आध्यात्मिक–मूल्यों की प्रधानता
2. विधायक जीवन–दृष्टि	2. निषेधक जीवन–दृष्टि
3. समष्टिवादी	3. व्यष्टिवादी
4. व्यवहार में कर्म पर बल फिर भी दैविक शक्तियों की कृपा पर विश्वास	4. व्यवहार में नैष्कर्मण्यता का समर्थन फिर आत्मकल्याण हेतु वैयक्तिक पुरुषार्थ पर बल
5. ईश्वरवादी	5. अनीश्वरवादी
6. ईश्वरीय कृपा पर विश्वास	6. वैयक्तिक प्रयासों पर विश्वास, कर्म–सिद्धांत का समर्थन
7. साधना के बाह्य–साधनों पर बल	7. आन्तरिक–विशुद्धता पर बल
8. जीवन का लक्ष्य स्वर्ग/ईश्वर–सान्निध्य की प्राप्ति	8. जीवन का लक्ष्य मोक्ष एवं निर्वाण की प्राप्ति
9. वर्ण–व्यवस्था और जातिवाद का जन्मना आधार पर समर्थन	9. जातिवाद का विरोध, वर्ण–व्यवस्था का केवल कर्मणा–आधार पर समर्थन
10. गृहस्थ–जीवन की प्रधानता	10. संन्यास–जीवन की प्रधानता
11. सामाजिक जीवन–शैली	11. एकाकी जीवन–शैली
12. राजतन्त्र का समर्थन	12. जनतन्त्र का समर्थन
13. शक्तिशाली की पूजा	13. सदाचारी की पूजा
14. विधि–विधानों एवं कर्मकाण्डों की प्रधानता।	14. ध्यान और तप की प्रधानता
15. ब्राह्मण–संस्था (पुरोहित–वर्ग) का विकास	15. श्रमण–संस्था का विकास
16. उपासनामूलक	16. समाधिमूलक

प्रवर्त्तक धर्म में प्रारम्भ में जैविक मूल्यों की प्रधानता रही, वेदों में

जैविक–आवश्यकताओं की पूर्त्ति से सम्बन्धित प्रार्थनाओं के स्वर अधिक मुखर हुए हैं, उदाहरणार्थ–हम सौ वर्ष जीयें, हमारी सन्तान बलिष्ठ होंवे, हमारी गायें अधिक दूध देवें, वनस्पति प्रचुर मात्रा में हो आदि। इसके विपरीत, निवर्त्तक धर्म ने जैविक–मूल्यों के प्रति एक निषेधात्मक रुख अपनाया, उसने सांसारिक–जीवन की दुःखमयता का राग अलापा। उनकी दृष्टि में शरीर आत्मा का बन्धन है और संसार दुःखों का सागर। उन्होंने संसार और शरीर–दोनों से ही मुक्ति को जीवन–लक्ष्य माना। उनकी दृष्टि में दैहिक आवश्यकताओं का निषेध, अनासक्ति, विराग और आत्म–सन्तोष ही सर्वोच्च जीवन–मूल्य हैं।

एक ओर, जैविक–मूल्यों की प्रधानता का परिणाम यह हुआ है कि प्रवर्त्तक–धर्म में जीवन के प्रति एक विधायक–दृष्टि का निर्माण हुआ तथा जीवन को सर्वतोभावेन वांछनीय और रक्षणीय माना गया, तो दूसरी और जैविक–मूल्यों के निषेध से जीवन के प्रति एक ऐसी निषेधात्मक दृष्टि का विकास हुआ, जिसमें शारीरिक–माँगों को ठुकराना ही जीवन–लक्ष्य मान लिया गया और देह–दण्डन ही तप–त्याग और आध्यात्मिकता के प्रतीक बन गए, यद्यपि दैहिक–मूल्यों की उपलब्धि हेतु कर्म आवश्यक थे। जब मनुष्य ने यह देखा कि दैहिक–आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये उसके वैयक्तिक–प्रयासों के बावजूद उनकी पूर्त्ति या अपूर्त्ति किन्हीं अन्य शक्तियों पर निर्भर है, तो वह दैववादी और ईश्वरवादी बन गया। विश्व–व्यवस्था और प्राकृतिक शक्तियों को नियन्त्रक तत्त्वों के रूप में उसने विभिन्न देवों और फिर ईश्वर की कल्पना की और उनकी कृपा की आकांक्षा करने लगा। इसके विपरीत, निवर्त्तक धर्म व्यवहार में नैष्कर्मण्यत का समर्थक होते हुए भी कर्म–सिद्धान्त के प्रति आस्था के कारण यह मानने लगा कि व्यक्ति का बन्धन और मुक्ति स्वयं उसके कारण है, अतः निवर्त्तक–धर्म पुरुषार्थवाद और वैयक्तिक प्रयासों पर आस्था रखने लगा। अनीश्वरवाद, पुरुषार्थवाद और कर्मसिद्धान्त उसके प्रमुख तत्त्व बन गए। साधना के क्षेत्र में जहाँ प्रवर्त्तक धर्म में अलौकिक दैवीय–शक्तियों की प्रसन्नता के निमित्त कर्मकाण्ड और बाह्य–विधानों (यज्ञ–योग) का विकास हुआ, वहीं निवर्त्तक धर्मों ने चित्त–शुद्धि और सदाचार पर अधिक बल दिया तथा किन्हीं

दैवीय–शक्तियों के निमित्त कर्मकाण्ड के सम्पादन को अनावश्यक माना।

निवर्त्तक श्रमण–धर्मों की विकास–यात्रा

भारतीय–संस्कृति एक समन्वित संस्कृति है। इसकी संरचना में वैदिकधारा और श्रमणधारा का महत्वपूर्ण अवदान है। वैदिकधारा मूलतः प्रवृत्तिप्रधान और श्रमणधारा निवृत्तिप्रधान रही है। वैदिकधारा का प्रतिनिधित्व वर्तमान में हिन्दूधर्म करता है, जबकि श्रमणधारा का प्रतिनिधित्व जैन और बौद्ध–धर्म करते हैं, किन्तु यह समझना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि वर्त्तमान हिन्दू धर्म अपने शुद्ध रूप में मात्र वैदिक परम्पा का अनुयायी है । आज उसने श्रमणधारा के अनेक तत्त्वों को अपने में समाविष्ट कर लिया है। अतः वर्तमान हिन्दूधर्म वैदिकधारा और श्रमणधारा का एक समन्वित रूप है और उसमें इन दोनों परम्पराओं के तत्त्व सन्निहित हैं। इसी प्रकार, यह कहना भी उचित नहीं होगा कि जैनधर्म और बौद्धधर्म मूलतः श्रमण–परम्परा के धर्म होते हुए भी वैदिकधारा या हिन्दूधर्म से पूर्णतः प्रभावित रहे हैं। इन दोनों धर्मों ने भी वैदिकधारा के विकसित धर्म से कालक्रम में बहुत कुछ ग्रहण किया है।

यह सत्य है कि हिन्दूधर्म प्रवृत्तिप्रधान रहा है। उसमें यज्ञ–याग और कर्मकाण्ड की प्रधानता है, फिर भी उसमें संन्यास, मोक्ष और वैराग्य का अभाव नहीं है। अध्यात्म, संन्यास और वैराग्य के तत्त्वों को उसने श्रमण–परम्परा से न केवल ग्रहण किया है, अपितु उन्हें आत्मसात् भी कर लिया है। यद्यपि वेदकाल के प्रारंभ में ये तत्त्व उसमें पूर्णतः अनुपस्थित थे, किन्तु औपनिषदिक–काल में उसमें श्रमण–परम्परा के इन तत्त्वों को मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। 'ईशावास्योपनिषद्' सर्वप्रथम वैदिकधारा और श्रमणधारा के समन्वय का प्रयास है। आज हिन्दूधर्म में संन्यास, वैराग्य, तप–त्याग, ध्यान और मोक्ष की जो अवधारणाएँ विकसित हुई हैं, वे सभी इस बात को प्रमाणित करती हैं कि वर्तमान हिन्दूधर्म ने भारत की श्रमणधारा से बहुत–कुछ ग्रहण किया है। उपनिषद् वैदिक और श्रमणधारा के समन्वयस्थल हैं, उनमें वैदिक–हिन्दूधर्म एक नया स्वरूप लेता प्रतीत होता है।

इसी प्रकार, कालान्तर में श्रमणधारा ने भी चाहे–अनचाहे वैदिकधारा से बहुत कुछ ग्रहण किया है। श्रमणधारा में कर्मकाण्ड और पूजा–पद्धति तो वैदिकधारा से आयी ही हैं, अपितु अनेक हिन्दू देवी–देवता भी श्रमण–परम्परा में मान्य कर लिये गए हैं। भारतीय संस्कृति की ये विभिन्न धाराएँ किस रूप में एक–दूसरे से समन्वित हुई है, इसकी चर्चा करने के पूर्व हमें यह ध्यान रखना होगा कि इन दोनों धाराओं का स्वतन्त्र विकास किन मनौवैज्ञानिक और पारिस्थितिक–कारणों से हुआ है तथा कालक्रम में क्यों और कैसे इनका परस्पर समन्वय आवश्यक हुआ।

श्रमण एंवं वैदिक संस्कृतियों के समन्वय की यात्रा

यद्यपि पूर्व में हमने प्रवर्त्तक धर्म अर्थात् वैदिक परम्परा और निवर्त्तक–धर्म अर्थात् श्रमण–परम्परा की मूलभूत विशेषताओं और उनके सांस्कृतिक एवं दार्शनिक–प्रदेयों को समझा है, किन्तु यह मानना भ्रान्तिपूर्ण ही होगा कि आज वैदिकधारा और श्रमणधारा ने अपने इस मूल स्वरूप को बनाए रखा है। एक ही देश और परिवेश में रहकर दोनों ही धाराओं के लिये असम्भव था कि वे एक–दूसरे के प्रभाव से अछूती रहें, अतः जहाँ वैदिकधारा में श्रमणधारा (निवर्त्तक धर्म–परम्परा) के तत्त्वों का प्रवेश हुआ है, वहाँ श्रमणधारा में प्रवर्त्तक धर्म परम्परा के तत्त्वों का प्रवेश भी हुआ है, अतः आज के युग में कोई धर्म–परम्परा न तो ऐकान्तिक निवृत्तिमार्ग की पोषक है और न ऐकान्तिक–प्रवृत्तिमार्ग की।

वस्तुतः, निवृत्ति और प्रवृत्तिं के सम्बन्ध में ऐकान्तिक–दृष्टिकोण न तो व्यावहारिक है और न मनोवैज्ञानिक। मनुष्य जब तक मनुष्य है, मानवीय–आत्मा जब तक शरीर के साथ योजित होकर सामाजिक–जीवन जीती है, तब तक ऐकान्तिक–प्रवृत्ति और ऐकान्तिक निवृत्ति की बात करना एक मृग–मरीचिका में जीना होगा। वस्तुतः, आवश्यकता इस बात की रही है कि हम वास्तविकता को समझें और प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के तत्त्वों में समुचित समन्वय से एक ऐसी जीवन शैली खोजें, जो व्यक्ति और समाज–दोनों के लिये कल्याणकारी हो और मानव को तृष्णाजनिक मानसिक एवं सामाजिक–सन्त्रास से मुक्ति दिला सके। इस प्रकार, इन दो भिन्न

संस्कृतियों में पारस्परिक समन्वय आवश्यक था। जैनधर्म में इसी प्रयास में मुनिधर्म के साथ–साथ गृहस्थधर्म का भी प्रतिपादन हुआ और उसे विरताविरत अर्थात् आंशिक रूप से निवृत्त और आंशिक रूप से प्रवृत्त कहा गया।

भारत में प्राचीन काल से ही ऐसे प्रयत्न होते रहे हैं। प्रवर्तकधारा के प्रतिनिधि हिन्दूधर्म में समन्वय के सबसे अच्छे उदाहरण 'ईशावास्योपनिषद्' और 'भगवद्गीता' हैं। इन दोनों ग्रंथों में प्रवृत्ति और निवृत्तिमार्ग के समन्वय का स्तुत्य प्रयास हुआ है। श्रमण–परम्परा की एक अन्य धारा के रूप में विकसित बौद्धधर्म में तो प्रवर्त्तक–धारा के तत्त्वों का इतना अधिक प्रवेश हुआ कि महायान से तन्त्रयान की यात्रा तक वह अपने मूल स्वरूप से काफी दूर हो गया। भारतीय–धर्मों के ऐतिहासिक विकास–क्रम में हम कालक्रम में हुए आदान–प्रदान की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। इसी आदान–प्रदान के कारण ये परम्पराएँ एक–दूसरे के काफी निकट आ गई।

वस्तुतः, भारतीय संस्कृति एक संश्लिष्ट संस्कृति है। उसे हम विभिन्न चारदीवारियों में अवरुद्ध कर कभी भी सम्यक् प्रकार से नहीं समझ सकते हैं, उसको खण्ड–खण्ड में विभाजित करके देखने में उसकी आत्मा ही मर जाती है। जैसे शरीर को खण्ड–खण्ड कर देखने से शरीर की क्रिया–शक्ति को नहीं समझा जा सकता है, वैसे ही भारतीय संस्कृति को खण्ड–खण्ड करके उसकी मूल आत्मा को नहीं समझा जा सकता है। भारतीय–संस्कृति को हम तभी सम्पूर्ण समझ सकते हैं, जब तक कि उसके विभिन्न घटकों अर्थात् जैन, बौद्ध और हिन्दू–धर्म–दर्शन का समन्वित एवं सम्यक् अध्ययन न कर लें। बिना उसके संयोजित घटकों के ज्ञान के उसका सम्पूर्णता में ज्ञान सम्भव ही नहीं है। एक इंजन की प्रक्रिया को भी सम्यक् प्रकार से समझने के लिये न केवल उसके विभिन्न घटकों का अर्थात् कल–पुर्जों का ज्ञान आवश्यक होता है, अपितु उनके परस्पर संयोजित रूप को भी देखना होता है, अतः हमें स्पष्ट रूप से इस तथ्य को समझ लेना चाहिये कि भारतीय–संस्कृति के अध्ययन एवं शोध के क्षेत्र में अन्य सहवर्ती परम्पराओं और उनके पारस्परिक–सम्बन्धों के अध्ययन एवं शोध के क्षेत्र में अन्य

सहवर्ती परम्पराओं और उनके पारस्परिक–सम्बन्धों के अध्ययन के बिना कोई भी शोध परिपूर्ण नहीं हो सकती है। धर्म और संस्कृति शून्य में विकसित नहीं होते, वे अपने देश, काल और सहवर्ती परम्पराओं से प्रभावित होकर ही अपना स्वरूप ग्रहण करते हैं। यदि हमें जैन, बौद्ध, वैदिक या अन्य किसी भी भारतीय–संस्कृति–धारा का अध्ययन करना है, उसे सम्यक् प्रकार से समझना है, तो उसके देश, काल एवं परिवेशगत पक्षों को भी प्रामाणिकतापूर्वक तटस्थ बुद्धि से समझना होगा। चाहे जैन–विद्या के शोध एवं अध्ययन का प्रश्न हो या अन्य किसी भारतीय–विद्या के, हमें उसकी दूसरी परम्पराओं को अवश्य ही जानना होगा और देखना होगा कि वह उन दूसरी सहवर्ती परम्पराओं से किस प्रकार प्रभावित हुई है और उसने उन्हें किस प्रकार प्रभावित किया है। पारस्परिक–प्रभाव के अध्ययन के बिना कोई भी अध्ययन पूर्ण नहीं होता है।

यह सत्य है कि भारतीय–संस्कृति के इतिहास के आदिकाल से ही हम उसमें श्रमण और वैदिक–संस्कृति का अस्तित्व साथ–साथ पाते हैं, किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि भारतीय–संस्कृति में इन दोनों स्वतन्त्र धाराओं का संगम हो गया है और अब उन्हें एक–दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता। भारतीय–इतिहास के प्रारम्भिक–काल से ही ये दोनों धाराएँ परस्पर एक–दूसरे से प्रभावित होती रही हैं। अपनी–अपनी विशेषताओं के आधार पर विचार के क्षेत्र में हम चाहे उन्हें अलग–अलग देख लें, किन्तु व्यावहारिक–स्तर पर उन्हें एक–दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। भारतीय–वाङ्मय में ऋग्वेद प्राचीनतम माना जाता है। उसमें जहाँ एक ओर वैदिक समाज एवं वैदिक–क्रियाकाण्डों का उल्लेख है, वहीं दूसरी ओर उसमें न केवल व्रात्य, श्रमणों एवं आर्हतों की उपस्थिति के उल्लेख उपलब्ध हैं, अपितु ऋषभ, अरिष्टनेमि आदि, जो जैन परम्परा में तीर्थंकर के रूप में मान्य हैं, के प्रति समादर भाव भी व्यक्त किया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक–युग के प्रारंभ से भी भारत में ये दोनों संस्कृतियाँ साथ–साथ प्रवाहित होती रहीं। हिन्दूधर्म की शैवधारा और सांख्य–योग परम्परा मूलतः निवर्त्तक या श्रमण रही है, जो कालक्रम में बृहद् हिन्दूधर्म में आत्मसात् कर ली गई है।

मोहनजोदड़ों और हड़प्पा के उत्खनन में जिस प्राचीन भारतीय–संस्कृति की जानकारी हमें उपलब्ध होती है, उससे सिद्ध होता है कि वैदिक–संस्कृति के पूर्व भी भारत में एक उच्च संस्कृति अस्तित्व रखती थी, जिसमें तप, ध्यान आदि पर बल दिया जाता था। उस उत्खनन में ध्यानस्थ योगियों की सीलें आदि मिलना तथा प्राचीन स्तर पर यज्ञशाला आदि का न मिलना यहीं सिद्ध करता है कि वह संस्कृति तप, योग एवं ध्यान–प्रधान व्रात्य या श्रमण–संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती थी। यह निश्चित है कि आर्यों के *आगमन के साथ प्रारंभ हुए वैदिक–युग से ये दोनों ही धाराएँ साथ–साथ* प्रवाहित हो रही हैं और उन्होंने एक–दूसरे को पर्याप्त रूप से प्रभावित भी किया है। ऋग्वेद में व्रात्यों के प्रति जो तिरस्कार–भाव था, वह अथर्ववेद में समादर–भाव में बदल जाता है, जो दोनों धाराओं के समन्वय का प्रतीक है। तप, त्याग, संन्यास, ध्यान, समाधि, मुक्ति और अहिंसा की अवधारणाएँ संन्यासमार्गीय–श्रमणधारा के प्रभाव से ही वैदिकधारा में प्रविष्टि हुई हैं। उपनिषदों, महाभारत और गीता में एक ओर वैदिक–कर्मकाण्ड की समालोचना और उन्हें आध्यात्मिकता से समन्वित कर नए रूप में परिभाषित करने का प्रयत्न तथा दूसरी ओर तप, संन्यास और मुक्ति आदि की स्पष्ट रूप से स्वीकृति यही सिद्ध करती है कि ये ग्रंथ वैदिक एवं श्रमणधारा के बीच हुए समन्वय या संगम के ही परिचायक हैं। हमें यह स्मरण रखना होगा कि उपनिषद् और महाभारत, जिसका एक अंग गीता है, शुद्ध रूप से वैदिक कर्मकाण्डात्मक धर्म के प्रतिनिधि नहीं हैं। वह निवृत्तिप्रधान श्रमणधारा और प्रवृत्तिमार्गी वैदिकधारा के समन्वय का परिणाम है। उपनिषदों, महाभारत और गीता में यहाँ एक ओर श्रमणधारा के आध्यात्मिक और निवृत्तिप्रधान तत्त्वों को स्थान दिया गया है, वहीं दूसरी ओर यज्ञ आदि वैदिक–कर्मकाण्डों की श्रमण–परम्परा के समान आध्यात्मिक–दृष्टि से नवीन परिभाषाएँ भी प्रस्तुत की गई है। उसमें यज्ञ का अर्थ पशुबलि न होकर स्वहितों की बलि या समाजसेवा हो गया। हमें यह स्मरण रखना होगा कि हमारा आज का हिन्दूधर्म वैदिक और श्रमणधाराओं के समन्वय का परिणाम है। वैदिक–कर्मकाण्ड के विरोध में जो आवाज औपनिषिदिक–युग के ऋषि–मुनियों ने उठाई थी, जैन और अन्य श्रमण परम्पराओं ने

मात्र उसे मुखर ही किया है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि वैदिक–कर्मकाण्ड के प्रति यदि किसी ने पहली आवाज उठाई, तो वे औपनिषिदिक–ऋषि ही थे। उन्होंने ही सबसे पहले कहा था कि ये यज्ञरूपी नौकाएँ अदृढ़ हैं, ये आत्मा के विकास में सक्षम नहीं है। यज्ञ आदि वैदिक– कर्मकाण्डों की नवीन आध्यात्मिक–दृष्टि से व्याख्या करने का कार्य औपनिषिदिक–ऋषियों और गीता के प्रवक्ता का है। महावीर एवं बुद्धकालीन जैन और बौद्ध–परम्पराएँ तो औपनिषिदिक–ऋषियों के द्वारा प्रशस्त किये गए पथ पर गतिशील हुई हैं। वे वैदिक–कर्मकाण्ड, जन्मना जातिवाद और मिथ्या विश्वासों के विरोध में उठे हुए औपनिषिदिक–ऋषियों के स्वर के ही मुखरित रूप हैं । जैन और बौद्ध परम्पराओं में औपनिषिदिक–ऋषियों की अर्हत्–ऋषियों के रूप में स्वीकृति इसका स्पष्ट प्रमाण है।

यह सत्य है कि श्रमणों ने यज्ञों में पशुबलि, जन्मना वर्ण–व्यवस्था और वेदों के प्रामाण्य से इन्कार किया और इस प्रकार वे भारतीय–संस्कृति के समुद्धारक के रूप में ही सामने आये, किन्तु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि भारतीय–संस्कृति में आई इन विकृतियों के परिमार्जन करने की प्रक्रिया में वे स्वयं ही कहीं–न–कहीं उन विकृतियों से प्रभावित हो गए हैं। वैदिक कर्मकाण्ड अब पूजा–विधानों एवं तन्त्र–साधना के नये रूप में बौद्ध, जैन और अन्य श्रमण–परम्पराओं में प्रविष्ट हो गया है और उनकी साधना–पद्धति का एक अंग बन गया है। आध्यात्मिक–विशुद्धि के लिये किये जाने वाला ध्यान अब भौतिक–सिद्धियों के निमित्त किया जाने लगा है। जहाँ एक ओर भारतीय श्रमण–परम्परा ने वैदिक–परम्परा को आध्यात्मिक जीवन–दृष्टि के साथ–साथ तप, त्याग, संन्यास और मोक्ष की अवधारणाएँ प्रदान की, वहीं दूसरी ओर तीसरी–चौथी शती से वैदिक परम्परा के प्रभाव से पूजा–विधान और तान्त्रिक–साधनाएँ जैन और बौद्ध परम्पराओं में प्रविष्टि हो गई। अनेक हिन्दू देव–देवियाँ प्रकारान्तर में जैनधर्म एवं बौद्धधर्म में स्वीकार कर लिए गए। जैनधर्म में यक्ष–यक्षणियों एवं शासन–देवता की अवधारणाएँ हिन्दू–देवताओं का जैनीकरण मात्र हैं। अनेक हिन्दू–देवियों, जैसे– काली, महाकाली, ज्वालामालिनी अम्बिका, चक्रेश्वरी, पद्मावती,

सिद्धायिक, तीर्थंकरों की शासन–रक्षक देवियों के रूप में जैनधर्म का अंग बन गईं। इसी प्रकार, श्रुत–देवता के रूप में सरस्वती और सम्पत्ति–प्रदार के रूप में लक्ष्मी की उपासना भी जैनधर्म में ही होने लगी और हिन्दू–परम्परा का गणेश पार्श्व–यक्ष के रूप में लोकमंगल का देवता बन गया। वैदिक–परम्परा के प्रभाव से जैन–मंदिरों में भी अब यज्ञ होने लगे और पूजा–विधान में हिन्दू–देवताओं की तरह तीर्थंकरों का आह्वान एवं विसर्जन किया जाने लगा। हिन्दुओं की पूजा–विधि को भी मन्त्रों में कुछ शाब्दिक–परिवर्तनों के साथ जैनों ने स्वीकार कर लिया। इन सबकी विस्तृत चर्चा आगे की गई है। इस प्रकार, जैन और बौद्ध–परम्पराओं में तप, ध्यान और समाधि की साधना गौण होकर पूजा–विधि–विधान प्रमुख हो गया। इस पारस्परिक–प्रभाव का एक परिणाम यह भी हुआ कि जहाँ हिन्दू परम्परा में ऋषभ और बुद्ध को ईश्वर के अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया गया, वहीं जैन–परम्परा में राम और कृष्ण को शलाकापुरुष के रूप में मान्यता मिली। इस प्रकार, दोनों धाराएँ एक–दूसरे से समन्वित हुई।

आज हमें उनकी इस पारस्परिक–प्रभावशीलता को तटस्थ–दृष्टि से स्पष्ट करने का प्रयास करना चाहिये, ताकि धर्मों के बीच जो दूरियाँ पैदा कर दी गयी हैं, उन्हें समाप्त किया जा सके और उनकी निकटता को भी म्यक् रूप से समझा जा सके। दुर्भाग्य से इस देश में विदेशी तत्त्वों के द्वा ा केवल हिन्दू और मुसलमानों के बीच ही नहीं, अपितु जैन, बौद्ध, हिन्द , सिक्खों, जो कि बृहद भारत

–परम्परा के ही अंग हैं, के बीच भी खाइयाँ खोदने का कार्य किया जाता रहा है और सामान्य रूप से यह प्रसारित किया जाता र ा है कि जैन और बौद्धधर्म न केवल स्वतंत्र धर्म है, अपितु वे वैदिक–हिन्दू–परम्परा के विरोधी भी हैं। सामान्यतया, जैन और बौद्धधर्म को वैदिक धर्म के प्रति विद्रोह के रूप में चित्रित किया जाता है। यह सत्य है कि वैदिक और श्रमण परम्पराओं में कुछ मूल–भूत प्रश्नों को लेकर स्पष्ट मतभेद है। यह भी सत्य है कि जैन–बौद्ध–परम्परा ने वैदिक–परम्परा की उन विकृतियों का, जो कर्मकाण्ड, पुरोहितवाद, जातिवाद और ब्राह्मण

वर्ग के द्वारा निम्न वर्गों के शोषण के रूप में उभर रही थी, खुलकर विरोध ा किया, किन्तु हमें उसे विद्रोह के रूप में नहीं, अपितु भारतीय–संस्कृति के परिष्कार के रूप में ही समझना होगा। जैन और बौद्ध–धर्मों ने भारतीय–संस्कृति में आ रही विकृतियों का परिशोधन कर उसे स्वस्थ बनाने हेतु एक चिकित्सक का कार्य किया है, किन्तु स्मरण रखना होगा कि चिकित्सक कभी भी शत्रु नहीं होता, मित्र ही होता है। दुर्भाग्य से पाश्चात्य–चिन्तकों के प्रभाव से भारतीय–चिन्तक और किसी सीमा तक कुछ जैन और बौद्ध–चिन्तक भी यह मानने लगे हैं कि जैनधर्म और वैदिक (हिन्दू) धर्म परस्पर विरोधी धर्म हैं, किन्तु यह एक भ्रान्त अवधारणा है। चाहे अपने मूल में वैदिक एवं श्रमण–संस्कृति प्रवर्त्तक और निवर्त्तक धर्म–परम्पराओं के रूप में भिन्न–भिन्न रही हो, किन्तु आज न तो हिन्दू–परम्परा ही उस अर्थ में पूर्णतः वैदिक है और न ही जैन–बौद्ध परम्परा पूर्णतः श्रमण। आज चाहे हिन्दू धर्म हो अथवा जैन और बौद्ध धर्म हों, ये सभी अपने वर्त्तमान स्वरूप में वैदिक और श्रमण–संस्कृति के समन्वित रूप हैं। यह बात अलग है कि उनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति में से कोई एक पक्ष अभी भी प्रमुख है। उदाहरण के रूप में हम कह सकते हैं कि जहाँ जैनधर्म आज भी निवृत्तिप्रधान है, वहाँ हिन्दू–धर्म प्रवृत्तिप्रधान, फिर भी यह मानना उचित होगा कि ये दोनों धर्म प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय से ही निर्मित हुए हैं। जैनधर्म के अनुसार भी भगवान् ऋषभदेव ने दीक्षित होने के पूर्व प्रवृत्तिमान् अर्थात् परिवार धर्म, समाज धर्म, राज्य–ध र्म आदि का उपदेश दिया था।

पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि इस समन्वय का प्रथम प्रयत्न हमें 'ईशावास्योपनिषद्' में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता हैं, अतः आज जहाँ उपनिषदों को प्राचीन श्रमण–परम्परा के परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है, वहीं जैन और बौद्ध परम्परा को भी औपनिषिदिक–परम्परा के परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है। जिस प्रकार वासना और विवेक, प्रेय और श्रेय परस्पर भिन्न–भिन्न होकर भी मानव व्यक्तित्व के ही अंग हैं, इसी प्रकार, निवृत्तिप्रधान श्रमणधारा और प्रवृत्तिप्रधान वैदिकधारा दोनों भारतीय–संस्कृति के ही अंग हैं। वस्तुतः, कोई भी संस्कृति ऐकान्तिक

निवृत्ति या ऐकान्तिक–प्रवृत्ति के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकती है। जैन और बौद्ध परम्पराएँ भारतीय–संस्कृति का वैसे ही अभिन्न अंग है, जैसे हिन्दू–परम्परा। यदि औपनिषिदिक–धारा को वैदिकधारा से भिन्न होते हुए भी वैदिक या हिन्दू–परम्परा का अभिन्न अंग माना जाता है, तो फिर जैन और बौद्ध–परम्पराओं को उसका अभिन्न अंग क्यों नहीं माना जा सकता? यदि सांख्य और मीमांसक अनीश्वरवादी होते हुए भी आज हिन्दूधर्म–दर्शन के अंग माने जाते हैं, तो फिर जैन व बौद्ध–धर्म को अनीश्वरवादी कहकर उससे कैसे भिन्न किया जा सकता है? वस्तुतः, हिन्दू कोई एक धर्म और दर्शन न होकर, एक व्यापक परम्परा का नाम है या कहें कि वह विभिन्न वैचारिक एवं साधनात्मक परम्पराओं का समूह है, उसमें ईश्वरवाद– अनीश्वरवाद, द्वैतवाद–अद्वैतवाद, प्रवृत्ति–निवृत्ति, ज्ञान–कर्म सभी कुछ तो समाहित हैं। उसमें प्रकृति–पूजा जैसे धर्म के प्रारंभिक लक्षणों से लेकर अद्वैत की उच्च गहराइयाँ तक सभी कुछ तो उसमें सन्निविष्ट हैं। अतः, हिन्दू उस अर्थ में कोई एक धर्म नहीं है, जैसे यहूदी, ईसाई या मुसलमान। हिन्दू एक संश्लिष्ट परम्परा है, एक सांस्कृतिक–धारा है, जिसमें अनेक धाराएँ समाहित हैं।

अतः, जैन और बौद्ध–धर्म को हिन्दू–परम्परा से नितान्त भिन्न नहीं माना जा सकता। जैन और बौद्ध भी उसी आध्यात्मिक पक्ष के अनुयायी हैं, जिसके औपनिषिदिक–ऋषि थे। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने भारतीय–समाज के दलित–वर्ग के उत्थान तथा जन्मना जातिवाद, कर्मकाण्ड व पुरोहितवाद से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने उस धर्म का प्रतिपादन किया, जो जनसामान्य का धर्म था और जिसे कर्मकाण्डों की अपेक्षा नैतिक–सद्गुणों पर अधिष्ठित किया गया था। उन्होंने भारतीय–समाज को पुराहित–वर्ग के धार्मिक–शोषण से मुक्त किया। वे विदेशी नहीं है, इसी माटी की सन्तान हैं, वे शत–प्रतिशत भारतीय हैं। जैन, बौद्ध और औपनिषिदिक–धारा किसी एक ही मूल स्रोत के विकास हैं, और आज उन्हें उसी परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है।

भारतीय धर्मों, विशेषरूप से औपनिषिदिक, बौद्ध और जैन–धर्मों की जिस पारस्परिक प्रभावशीलता के अध्ययन की आज विशेष आवश्यकता है,

उसे समझने में प्राचीन स्तर के जैन–आगम, यथा– 'आचारांग', 'सूत्रकृतांग', 'ऋषिभाषित' और 'उत्तराध्ययन' आदि हमारे दिशा–निर्देशक सिद्ध हो सकते हैं। मुझे विश्वास है कि इन ग्रन्थों के अध्ययन से भारतीय–विद्या के अध्येताओं को एक नई दिशा मिलेगी और यह मिथ्या विश्वास दूर हो जाएगा कि जैनधर्म, बौद्धधर्म और हिन्दूधर्म परस्पर विरोधी धर्म हैं। आचारांग में हमें ऐसे अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं, जो अपने भाव, शब्द–योजना और भाषा–शैली की दृष्टि से औपनिषिदिक–सूत्रों के निकट हैं। 'आचारांग' में आत्म के स्वरूप के सन्दर्भ में जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, वह 'माण्डूक्योपनिषद्' से यथावत् मिलता है। 'आचारांग' में श्रमण और ब्राह्मण का उल्लेख परस्पर प्रतिस्पर्द्धियों के रूप में नहीं, अपितु सहगामियों के रूप में मिलता है। चाहे 'आचारांग' 'उत्तराध्ययन' आदि जैनागम हिंसक यज्ञीय कर्मकाण्ड का निषेध करते हों, किन्तु वे ब्राह्मणों को भी उसी नैतिक एवं आध्यात्मिक–पथ का अनुगामी मानते हैं, जिस पथ पर श्रमण चल रहे थे। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण वह है, जो सदाचार का जीवंत प्रतीक है। उनमें अनेक स्थलों पर श्रमणों और ब्राह्मणों (स. ण–माहण) का साथ–साथ उल्लेख हुआ है।

इसी प्रकार, 'सूत्रकृतांग' में यद्यपि तत्कालीन दार्शनिक–मान्यताओं की समीक्षा है, किन्तु उनके साथ ही उसमें औपनिषिदिक–युग के अनेक ऋषियों यथा–विदेहनमि, बाहुक अयितदेवल, द्वैपायन, पाराशर आदि का समादरपूर्वक उल्लेख भी हुआ है। 'सूत्रकृतांग' स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि इन ऋषियों के आचार नियम उसकी आचार–परम्परा से भिन्न थे, फिर भी वह उन्हें अपनी अर्हत् परम्परा का ही पूज्य पुरुष मानता है। वह उनका महापुरुष और तपोधन के रूप में उल्लेख करता है और यह मानता है कि उन्होंने सिद्धि अर्थात् जीवन के चरम साध्य मोक्ष को प्राप्त कर लिया था। 'सूत्रकृतांग' की दृष्टि में ये ऋषिगण भिन्न आचार–मार्ग का पालन करते हुए भी उसकी अपनी ही परम्परा के ऋषि थे। 'सूत्रकृतांग' में इन ऋषियों को महापुरुष, तपोधन एवं सिद्धि प्राप्त कहना तथा 'उत्तराध्ययन' में अन्य लिंग सिद्धों का अस्तित्व मानना यही सूचित करता है कि प्राचीन काल में जैन–परम्परा अत्यन्त उदार थी और वह मानती थी

कि मुक्ति का अधिकार केवल उसके आचार–नियमों का पालन करने वाले को ही नहीं है, *अपितु भिन्न आचार–मार्ग का पालन करने* वाला भी मुक्ति का अधिकारी हो सकता है, शर्त केवल एक ही है, उसका चित्त विषय–वासनाओं एवं राग–द्वेष से रहित और समता–भाव से वासित हो।

इसी सन्दर्भ में यहाँ 'ऋषिभाषित' (इसिभासियाई) का उल्लेख करना भी आवश्यक है, जो जैन आगम–साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ (ई.पू. चौथी शती) है। जैन–परम्परा में इस ग्रन्थ का निर्माण उस समय हुआ होगा, जब जैनधर्म एक सम्प्रदाय के रूप में विकसित नहीं हुआ था। इस ग्रन्थ में नारद, असितदेवल, अंगिरस, पाराशर, अरुण, नारायण, याज्ञवल्क्य, उद्दालक, विदुर, सारिपुत्त, महाकश्यप मंखलिगोशाला, संजय (वेलिट्ठिपुत्त) आदि पैंतालिस ऋषियों का उल्लेख है और इन सभी को अर्हत्–ऋषि, बुद्ध–ऋषि या ब्राह्मण–ऋषि कहा गया है। 'ऋषिभाषित' में इनके आध्यात्मिक और नैतिक उपदेशों का संकलन है। जैन–परम्परा में इस ग्रंथ की रचना इस तथ्य का स्पष्ट संकेत है कि औपनिषिदिक– ऋषियों की परम्परा और जैन–परम्परा का उद्गम–स्रोत एक ही है। यह ग्रन्थ न केवल जैनधर्म की धार्मिक–उदारता का सूचक है, अपितु यह भी बताता है कि सभी भारतीय–आध्यात्मिक–परम्पराओं का मूल स्रोत एक ही है। औपनिषिदिक, बौद्ध, जैन, आजीवक, सांख्य, योग आदि सभी उसी मूल स्रोत से निकली हुई धाराएँ हैं। जिस प्रकार जैनधर्म के 'ऋषिभाषित' में विभिन्न परम्पराओं के ऋषियों के उपदेश संकलित हैं, *उसी प्रकार बौद्ध–परम्परा की 'थेरगाथा'* में भी विभिन्न परम्पराओं के स्थविरों के उपदेश संकलित हैं। उसमें भी अनेक औपनिषिदिक एवं अन्य श्रमण–परम्परा के आचार्यों के उल्लेख हैं, जिनमें एक वर्धमान (महावीर) भी हैं। ये सभी उल्लेख इस तथ्य के सूचक हैं कि भारतीय–चिन्तनधारा प्राचीनकाल से ही उदार और सहिष्णु रही है और उसकी प्रत्येक धारा में यही उदारता और सहिष्णुता प्रवाहित होती रही है। आज जब हम साम्प्रदायिक–अभिनिवेशों में जकड़कर परस्पर संघर्षों में उलझ गये हैं, इन धाराओं का तुलनात्मक–अध्ययन हमें एक नयी दृष्टि प्रदान कर सकता है। यदि भारतीय–सांस्कृतिक–चिन्तन की इन धाराओं को एक–दूसरे से अलग

कर देखने का प्रयत्न किया जायगा, तो हम उन्हें सम्यक् रूप से समझने में सफल नहीं हो सकेंगे। जिस प्रकार 'उत्तराध्ययन', 'सूत्रकृतांग', 'ऋषिभाषित' और 'आचारांग' को समझने के लिए औपनिषिदिक–साहित्य का अध्ययन आवश्यक है, उसी प्रकार उपनिषदों और बौद्ध–साहित्य को भी जैन–परम्परा के अध्ययन के अभाव में सम्यक् प्रकार से नहीं समझा जा सकता है। आज साम्प्रदायिक–अभिनिवेशों से ऊपर तटस्थ एवं तुलनात्मक रूप से सत्य का अन्वेषण ही एक ऐसा विकल्प है, जो साम्प्रदायिक–अभिनिवेश से ग्रस्त मानव को मुक्ति दिला सकता है और भारतीय–धर्मों की पारस्परिक–प्रभावशीलता को स्पष्ट कर सकता है।

जैनधर्म का वैदिकधर्म को अवदान

औपनिषिदिक–काल या महावीर–युग की सबसे प्रमुख समस्या यह थी कि उस युग में अनेक परम्पराएँ अपने एकांगी दृष्टिकोण को ही पूर्ण सत्य समझकर परस्पर एक–दूसरे के विरोध में खड़ी थीं। उस युग में चार प्रमुख, वर्ग थे– 1. क्रियावादी, 2. अक्रियावादी, 3. विनयवादी और 4. अज्ञानवादी। महावीर ने सर्वप्रथम उनमें समन्वय करने का प्रयास किया। प्रथम क्रियावादी–दृष्टिकोण आचार के बाह्य–पक्षों पर अधिक बल देता था। वह कर्मकाण्डपरक था। बौद्ध–परम्परा में इस धारणा को शीलव्रत–परामर्श कहा गया है। दूसरा अक्रियावाद था। अक्रियावाद के तात्त्विक–आधार या तो विभिन्न नियतिवादी–दृष्टिकोण थे या आत्मा को कूटस्थ एवं अकर्त्ता मानने की दार्शनिक अवधारणा के पोषक थे। ये परम्पराएँ ज्ञानमार्ग की प्रतिपादक थीं। जहाँ क्रियावाद के अनुसार कर्म या आचरण ही साधना का सर्वस्व था, वहाँ अक्रियावाद के अनुसार ज्ञान ही साधना का सर्वस्व था। कियावाद कर्ममार्ग का प्रतिपादक था और अकियावाद ज्ञानमार्ग का प्रतिपादक। कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग के अतिरिक्त तीसरी परम्परा अज्ञानवादियों की थी, जो अतीन्द्रिय एवं पारलौकिक–मान्यताओं को 'अज्ञेय' स्वीकार करती थी। इसका दर्शन रहस्यवाद और सन्देहवाद– इन दो रूपों में विभाजित था। इन तीनों परम्पराओं के अतिरिक्त चौथी परम्परा विनयवाद की थी, जिसे भक्तिमार्ग का प्रारम्भिक रूप माना जाता है। विनयवाद

भक्तिमार्ग का ही अपरनाम था। इस प्रकार, उस युग में ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग और अनेयवाद (सन्देहवाद) की परम्पराएँ अलग–अलग रूप में प्रतिष्ठित थीं। महावीर ने अपने अनेकान्तवादी–दृष्टिकोण के द्वारा इनमें समन्वय खोजने का प्रयास किया। सर्वप्रथम उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यक्–ज्ञान और सम्यक्–चारित्र के रूप में त्रिविध मोक्षमार्ग का एक ऐसा सिद्धांत प्रतिपादित किया, जिसमें ज्ञानवादी, कर्मवादी और भक्तिमार्गी–परम्पराओं का समुचित समन्वय था। इस प्रकार, महावीर एवं जैन–दर्शन का प्रथम प्रयास ज्ञानमार्गीय, कर्ममार्गीय, विभिन्न भक्तिमार्गी, तापस आदि दृष्टिकोणों के मध्य समन्वय स्थापित करना था। यद्यपि 'गीता' में ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग की चर्चा हुई है, किन्तु वहाँ इनमें से प्रत्येक को मोक्षमार्ग मान लिया गया है, जबकि जैनधर्म में इनके समन्वित रूप को मोक्षमार्ग कहा गया।

जैनधर्म ने केवल वैदिक ऋषियों द्वारा प्रतिपादित यज्ञ–याग की परम्परा का विरोध किया, वरन् श्रमण–परम्परा के देह–दण्डन की तपस्यात्मक–प्रणाली का भी विरोध किया। सम्भवतः, महावीर के पूर्व पार्श्व के काल तक धर्म का सम्बन्ध बाह्य–तथ्यों से ही जोड़ा गया था। यही कारण था कि ब्राह्मण वर्ग यज्ञ–याग के क्रियाकाण्डों में ही धर्म की इतिश्री मान लेता था। सम्भवतः, जैन–परम्परा में महावीर के पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने आध्यात्मिक साधना में बाह्य–पहलू के स्थान पर उसके आन्तरिक–पहलू पर बल दिया था और परिणामस्वरूप श्रमण–परम्पराओं में भी बौद्ध आदि कुछ धर्म परम्पराओं ने इस आन्तरिक पहलू पर अधिक बल देना प्रारम्भ कर दिया था। लेकिन महावीर के युग तक धर्म एवं साधना का यह बाह्यमुखी दृष्टिकोण पूरी तरह समाप्त नहीं हो पाया था, वरन् ब्राह्मण–परम्परा में तो यज्ञ, श्राद्धादि के रूप में वह अधिक प्रसार पा गया था। दूसरी ओर, जिन विचारकों ने साधना के आन्तरिक पक्ष पर बल देना प्रारंभ किया था, उन्होंने उसके बाह्य–पक्ष की पूरी तरह अवहेलना करना प्रारम्भ कर दिया था, परिणामस्वरूप वे भी एक अति की ओर जाकर एकांगी बन गए। अतः, महावीर ने दोनों ही पक्षों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया और यह बताया कि धर्मसाधना का सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवन

से है। उसमें आचरण के बाह्य–पक्ष के रूप में क्रिया का जो स्थान आन्तरिक प्रेरक का है। इस प्रकार, उन्होंने धार्मिक जीवन में आचरण के प्रेरक और आचरण के परिणाम–दोनों पर ही बल दिया। उन्होंने ज्ञान और क्रिया के बीच समन्वय स्थापित किया। 'नरसिंहपुराण' (61/9/11) में भी 'आवश्यकनिर्युक्ति' (पृष्ट, 15–17) के समान ही ज्ञान और क्रिया के समन्वय को अनेक रूपकों से वर्णित किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैन परम्परा के इस चिन्तन ने हिन्दू–परम्परा को प्रभावित किया है।

मानव–मात्र की समानता का उद्घोष

उस युग की सामाजिक समस्याओं में वर्ण – व्यवस्था एक महत्वपूर्ण समस्या थी। वर्ण का आधार कर्म और स्वभाव को छोड़ जन्म मान लिया गया था। परिणामस्वरूप, वर्ण–व्यवस्था विकृत हो गयी थी और ऊँच–नीच का भेद हो गया था, जिसके कारण सामाजिक–स्वास्थ्य विषमता के ज्वर से आक्रान्त था। जैन–विचाराधारा ने जन्मना जातिवाद का विरोध किया और समस्त मानवों की समानता का उद्घोष किया। एक ओर उसने हरिकेशीबल जैसे निम्नकुलोत्पन्न को, तो दूसरी ओर गौतम जैसे ब्राह्मण–कुलोत्पन्न साधक को अपने साधना–मार्ग में समान रूप से दीक्षित किया। केवल जातिगत विभेद ही नहीं, वरन् आर्थिक–विभेद भी समानता की दृष्टि से जैन–विचारधारा के सामने कोई मूल्य नहीं रखता, जहाँ एक ओर मगध–सम्राट, तो दूसरी ओर पुणिया जैसे निर्धन श्रावक भी उसकी दृष्टि से समान थे। इस प्रकार उसने जातिगत या आर्थिक–आधार पर ऊँच–नीच का भेद अस्वीकार कर मानव–मात्र की समानता पर बल दिया। इसका प्रभाव हिन्दूधर्म पर भी पड़ा और उसमें भी गुप्तकाल के पश्चात् भक्तियुग में वर्ण–व्यवस्था और ब्राह्मण–वर्ग की श्रेष्ठता का विरोध हुआ। वैसे तो महाभारत के रचनाकाल (लगभग चौथी शती) से ही यह प्रभाव परिलक्षित होता है।

ईश्वरीय–दासता से मुक्ति और मानव की स्वतन्त्रता का उद्घोष

उस युग की दूसरी समस्या यह थी कि मानवीय स्वतन्त्रता का मूल्य लोगों की दृष्टि से कम आँका जाने लगा था। एक ओर ईश्वरवादी–धाराएँ,

तो दूसरी ओर कालवादी एवं नियतिवादी–धारणाएँ मानवीय–स्वतन्त्रता को अस्वीकार करने लगी थीं। जैन–दर्शन ने इस कठिनाई को समझा और मानवीय–स्वतन्त्रता की पुनः प्राण–प्रतिष्ठा की। उसने यह उद्घोष किया कि न तो ईश्वर और न अन्य शक्तियाँ मानव की निर्धारक हैं, वरन् मनुष्य स्वयं ही अपना निर्माता है। इस प्रकार, उसने मनुष्य को ईश्वरवाद की उस धारणा से मुक्ति दिलाई, जो मानवीय स्वतन्त्रता का अपहरण कर रही थी और यह प्रतिपादित किया कि मानवीय–स्वतन्त्रता में निष्ठा ही धर्म–दर्शन का सच्चा आधार बन सकती है। जैनों की इस अवधारणा का प्रभाव हिन्दूधर्म पर उतना अधिक नहीं पड़ा, जितना अपेक्षित था, फिर भी ईश्वरवाद की स्वीकृति के साथ–साथ मानव की श्रेष्ठता के स्वर तो मुखरित हुए ही थे।

रुढ़िवाद से मुक्ति

जैनधर्म ने रुढ़िवाद से भी मानव–जाति को मुक्त किया। उसने उस युग की अनेक रुढ़ियों, जैसे– पशु–यज्ञ, श्राद्ध, पुरोहित आदि से मानव समाज को मुक्त करने का प्रयास किया था और इसीलिये इन सबका खुला विरोध भी किया। ब्राह्मण–वर्ग ने अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि बताकर सामाजिक–शोषण का जो सिलसिला प्रारम्भ किया था, उसे समाप्त करने के लिये जैन एवं बौद्ध–परम्पराओं ने प्रयास किया। जैन और बौद्ध–आचार्यों ने सबसे महत्त्वपूर्ण काम यह किया कि उन्होंने यज्ञादि प्रत्ययों को नई परिभाषाएँ प्रदान की। यहाँ जैनधर्म के द्वारा प्रस्तुत ब्राह्मण, यज्ञ आदि की कुछ नई परिभाषाएँ दी जा रही हैं।

ब्राह्मण का नया अर्थ

जैन परम्परा ने सदाचरण को ही मानवीय जीवन में उच्चता और निम्नता का प्रतिमान माना और उसे ही ब्राह्मणत्व का आधार बताया। 'उत्तराध्ययन' के पच्चीसवें अध्याय एवं 'धम्मपद' के ब्राह्मण वर्ग नामक अध्याय में सच्चा ब्राह्मण कौन है? इसका सविस्तार विवेचन उपलब्ध है। विस्तारभय से उसकी समग्र चर्चा में न जाकर केवल एक–दो पद्यों को प्रस्तुत कर ही विराम लेंगे। 'उत्तराध्ययन' में बताया गया है कि 'जो जल

में उत्पन्न हुए कमल के समान भोगों में उत्पन्न होते हुए भी भोगों में लिप्त नहीं रहता, वहीं सच्चा ब्राह्मण है'। जो राग, द्वेष और भय से मुक्त होकर अन्तर में विशुद्ध है, वही सच्चा ब्राह्मण है। 'धम्मपद' में भी कहा गया है कि जैसे कमलपत्र पानी से अलिप्त होता है, जैसे आरे की नोक पर सरसों का दाना होता है, वैसे ही जो कामों में लिप्त नहीं होता, जिसने अपने दुःखों के भय को यहीं पर देख लिया है, जिसने जन्म–मरण के भार को उतार दिया है, जो सर्वथा अनासक्त है, जो मेधावी है, स्थितप्रज्ञ है, जो सन्मार्ग तथा कुमार्ग को जानने में कुशल है और जो निर्वाण की उत्तम स्थिति को पहुँच चुका है, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन एवं बौद्ध–दोनों परम्पराओं ने ही ब्राह्मणत्व की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए भी ब्राह्मण की एक नई परिभाषा प्रस्तुत की, जो श्रमण–परम्परा के अनुकूल थी। फलतः न केवल जैन–परम्परा एवं बौद्ध–परम्परा में, वरन् हिन्दू–परम्परा के महान् ग्रन्थ 'महाभारत' में भी ब्राह्मण की सही परिभाषा दी गई है। जैन परम्परा के 'उत्तराध्ययन', बौद्ध–परम्परा के 'धम्मपद–और 'महाभारत' के शांन्तिपर्व में सच्चे ब्राह्मण के स्वरूप का जो विवरण मिलता है, वह न केवल वैचारिक–साम्यता रखता है, वरन् उसमें शाब्दिक–साम्यता भी बहुत–अधिक है, जो कि तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है और इन परम्पराओं के पारस्परिक–प्रभाव को स्पष्ट करता है।

यज्ञ का आध्यात्मिक–अर्थ

जिस प्रकार ब्राह्मण की नई परिभाषा प्रस्तुत की गई, उसी प्रकार यज्ञ को भी एक नए अर्थ में परिभाषित किया गया। महावीर ने न केवल हिंसक यज्ञों के विरोध में अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया, वरन् उन्होंने यज्ञ की आध्यात्मिक एवं तपस्यापरक नई परिभाषा भी प्रस्तुत की। 'उत्तराध्ययन' में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का सविस्तार विवेचन है। बताया गया है कि "तप अग्नि है, जीवात्मा अग्निकुण्ड है, मन, वचन और काया की प्रवृत्तियाँ ही कलछी (चम्मच) हैं और कर्मों (पापों) का नष्ट करना ही आहुति है, यही यज्ञ संयम से युक्त होने से शान्तिदायक और सुखकारक है। ऋषियों ने

ऐसे ही यज्ञ की प्रशंसा की।'' फलतः, न केवल जैन–परम्परा में, वरन् बौद्ध और वैदिक–परम्पराओं में भी यज्ञ–याग के बाह्य–पक्ष का खण्डन और उसके आध्यात्मिक–स्वरूप का चित्रण उपलब्ध होता है। बुद्ध ने भी आध्यात्मिक–यज्ञ के स्वरूप का चित्रण लगभग उसी रूप में किया है, जिस रूप में उसका विवेचन उत्तराध्ययन में किया गया है। 'अंगुत्तरनिकाय' में यज्ञ के आध्यात्मिक–स्वरूप का वर्णन करते हुए बुद्ध कहते हैं कि हे ब्राह्मण! ये तीन अग्नियॉ त्याग करने और परिवर्तन करने के योग्य हैं, उनका सेवन नहीं करना चाहिये। हे ब्राह्मण! इन तीनों अग्नियों का सत्कार करें, इन्हें सम्मान प्रदान करें, इनकी पूजा और परिचर्या भलीभाँति सुख से करे। ये अग्नियाँ कौन–सी है, आहवानीयाग्नि (आहनेयाग्नि), गार्हत्याग्नि (गाहवत्तग्नि) और दक्षिणाग्नि (दविखठाय्यायाग्नि)। मां–बाप को आहवानीयाग्नि समझना चाहिये और सत्कार से उनकी पूजा करनी चाहिये। श्रमण–ब्राह्मणों को दक्षिणाग्नि समझना चाहिये और सत्कारपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिये। हे ब्राह्मण! यह लकड़ियों की अग्नि तो कभी जलानी पड़ती है, कभी उपेक्षा करनी पड़ती है और कभी उसे बुझानी पड़ती है, किन्तु ये अग्नियाँ तो सदैव और सर्वत्र पूजनीय हैं। इसी प्रकार, बुद्ध ने भी हिंसक–यज्ञों के स्थान पर यज्ञ के आध्यात्मिक एवं सामाजिक–स्वरूप को प्रकट किया। इतना ही नहीं, उन्होंने सच्चे यज्ञ का अर्थ सामाजिक–जीवन में सहयोग करना बताया। श्रमणधारा के इस दृष्टिकोण के समान ही उपनिषदों एवं गीता में भी यज्ञ–याग की निन्दा की गयी है और यज्ञ की सामाजिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचना की गई है। सामाजिक–सन्दर्भ में यज्ञ का अर्थ समाज–सेवा माना गया है। निष्कामभाव से समाज की सेवा करना 'गीता' में यज्ञ का सामाजिक–पहलू था। दूसरी ओर, गीता में यज्ञ के आध्यात्मिक–स्वरूप का विवचेन भी किया गया है। गीताकार कहता है की योगीजन संयमरूप अग्नि में श्रोत्रादि इन्द्रियों का हवन करते हैं अथवा इन्द्रियों के विषयों का इन्द्रियों में हवन करते हैं, दूसरे कुछ साधक इन्द्रियों के सम्पूर्ण कर्मों को और शरीर के भीतर रहने वाला वायु जो प्राण कहलाता है, उसके संकुचित होने, 'फैलने' आदि कर्मों को ज्ञान से प्रकाशित हुई आत्म–संयमरूप योगाग्नि में हवन करते हैं। घृतादि

चिकनी वस्तु से प्रज्ज्वलित हुई अग्नि की भाँति विवेक–विज्ञान से उज्ज्वलता को प्राप्त हुई (धारण–ध्यान समाधिरूप) उस आत्म–संयम–योगाग्नि में (प्राण और इन्द्रियों के कर्मों को) विलीन कर देते हैं। इस प्रकार, जैनधर्म में यज्ञ के जिस आध्यात्मिक–स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, उसका अनुमोदन बौद्ध–परम्परा और वैदिक–परम्परा में हुआ है। यही श्रमण–परम्परा का हिन्दू–परम्परा को मुख्य अवदान था।

स्नान आदि कर्मकाण्डों के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण

जैन विचारकों ने बाह्य–कर्मकाण्ड सम्बन्धी विचारों को भी नई दृष्टि प्रदान की। बाह्य शौच या स्नान, जो कि उस समय धर्म और उपासना का एक मुख्य रूप मान लिया गया था, को भी एक नया आध्यात्मिक–स्वरूप प्रदान किया गया। 'उत्तराध्ययन' में कहा गया है कि धर्म जलाशय है और ब्रह्मचर्य घाट (तीर्थ) है, उसमें स्नान करने से आत्मा शान्त, निर्मल और शुद्ध हो जाती है। इसी प्रकार, बौद्धदर्शन में भी सच्चे स्नान का अर्थ मन, वाणी और काया से सद्गुणों का सम्पादन माना गया है। न केवल जैन और बौद्ध–परम्परा में, वरन् वैदिक–परम्परा में भी यह विचार प्रबल हो गया कि यथार्थ शुद्धि आत्मा के सद्गुणों के विकास में निहित है। इस प्रकार, श्रमणों के इस चिन्तन का प्रभाव वैदिक या हिन्दू–परम्परा पर भी हुआ।

इसी प्रकार, ब्राह्मणों को दी जाने वाली दक्षिणा के प्रति एक नई दृष्टि प्रदान की गई और यह बताया गया कि दान की अपेक्षा, संयम ही श्रेष्ठ है। 'उत्तराध्ययन' में कहा गया है कि प्रतिमास सहस्त्रों गायों का दान करने की अपेक्षा भी जो बाह्य–रूप में दान नहीं करता, वरन् संयम का पालन करता है, उस व्यक्ति का संयम ही अधिक श्रेष्ठ है। 'धम्मपद' में ही कहा गया है कि एक तरफ मनुष्य यदि वर्षों तक हजारों की दक्षिणा देकर प्रतिमास यज्ञ करता जाय और दूसरी तरफ यदि वह पुण्यात्मा की क्षण भर भी सेवा करे, तो यह सेवा कहीं उत्तम है, न कि सौ वर्षों तक किया हुआ यज्ञ। इस प्रकार, जैनधर्म ने तत्कालीन कर्मकाण्डात्मक–मान्यताओं को एक नई दृष्टि प्रदान की और उन्हें आध्यात्मिक–स्वरूप

दिया, साथ ही धर्म–साधना का जो बहिर्मुखी दृष्टिकोण था, उसे आध्यात्मिक–संस्पर्श द्वारा अन्तर्मुखी बनाया। इससे उस युग के वैदिक–चिन्तन में एक क्रान्तिकारी–परिवर्तन उपस्थित हुआ! इस प्रकार, वैदिक–संस्कृति को रूपान्तरित करने का श्रेय सामान्य रूप में श्रमण–परम्परा को और विशेष रूप से जैन–परम्परा को है।

अर्हत्–ऋषि–परम्परा का सौहार्दपूर्ण इतिहास

प्राकृत–साहित्य में 'ऋषिभाषित' (इसिभासियाई) और पालि–साहित्य में 'थेरगाथा' ऐसे ग्रन्थ हैं, जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि अति प्राचीनकाल में आचार और विचारगत विभिन्नताओं के होते हुए भी अर्हत् ऋषियों की समृद्ध परम्परा थी, जिनमें पारस्परिक–सौहार्द था।

'ऋषिभाषित', जो कि प्राकृत जैन–आगमों और बौद्ध–पालिपिटकों में अपेक्षाकृत रूप से प्राचीन है और जो किसी समय जैन–परम्परा का महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना ज़ाता था, यह अध्यात्मप्रधान–श्रमणधारा के पारस्परिक–सौहार्द और एकरूपता को सूचित करता है। यह ग्रन्थ आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पश्चात् तथा शेष सभी प्राकृत और पालि–साहित्य के पूर्व ई. पू. लगभग चतुर्थ शताब्दी में निर्मित हुआ है। इस ग्रन्थ में निर्ग्रन्थ, बौद्ध, औपनिषिदिक एवं आजीवक आदि अन्य श्रमण–परम्पराओं के 45 अर्हत् ऋषियों के उपदेश संकलित हैं। इसी प्रकार, बौद्ध–परम्परा के ग्रन्थ थेरगाथा में भी श्रमणधारा के विभिन्न ऋषियों के उपदेश एवं आध्यात्मिक–अनुभूतियाँ संकलित हैं। ऐतिहासिक एवं अनाग्रही–दृष्टि से अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि न तो 'ऋषिभासित' (इसिभासियाइं) के सभी ऋषि जैन–परम्परा के हैं और न थेरगाथा के सभी थेर (स्थविर) बौद्ध–परम्परा के हैं, जहाँ ऋषिभाषित में सारिपुत्र, वात्सीपुत्र (वज्जीपुत्र) और महाकाश्यप बौद्ध–परम्परा के हैं, वहीं उद्दालक, याज्ञवल्क्य, अरुण, असितदेवल, नारद, द्वैपायन, अंगिरस, भारद्वाज आदि औपनिषिदिक–धारा से सम्बन्धित हैं, तो संजय (संजय वेलट्ठिपुत्त), मंखली गोशालक, रामपुत्त आदि अन्य स्वतन्त्र श्रमण–परम्पराओं से सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार, 'थेरगाथा' में वर्द्धमान आदि जैनधारा के, तो नारद आदि औपनिषिदिक–धारा

के ऋषियों की स्वानुभूति संकलित है। सामान्यतया, यह माना जाता है कि श्रमणधारा का जन्म वैदिकधारा की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ, किन्तु इसमें मात्र आंशिक सत्यता है। यह सही है कि वैदिक–धारा प्रवृत्तिमार्गी थी और श्रमणधारा निवृत्तिमार्गी। इनके बीच वासना और विवेक अथवा भोग और त्याग के जीवन मूल्यों का संघर्ष था, किन्तु ऐतिहासिक–दृष्टि से तो श्रमण–धारा का उद्‌भव, मानव–व्यक्तित्व के परिशोधन एवं नैतिक तथा अध्यात्मिक–मूल्यों के प्रतिस्थापन का ही प्रयत्न थे, जिसमें श्रमण–ब्राह्मण सभी सहभागी बने थे। 'ऋषिभाषित' में इन 'ऋषियों को अर्हत् कहना और 'सूत्रकृतांग' में इन्हें अपनी परम्परा से सम्मत मानना, प्राचीनकाल में इन ऋषियों की परम्परा के बीच पारस्परिक–सौहार्द का ही सूचक है।

निर्ग्रन्थ–परम्परा का इतिहास

लगभग ई.पू. सातवीं–आठवीं शताब्दी का युग एक ऐसा युग था, जब जनमानस इन सभी श्रमणों, तपस्वियों, योग–साधकों एवं चिन्तकों के उपदेशों को आदरपूर्वक सुनता था और अपने जीवन कों आध्यात्मिक एवं नैतिक–साधना से जोड़ता था, फिर भी वह किसी वर्ग–विशेष से बंधा हुआ नहीं था। दूसरे शब्दों में, उस युग में धर्म–परम्पराओं या धार्मिक–सम्प्रदायों का उद्‌भव नहीं हुआ था। क्रमशः इन श्रमणों, साधकों एवं चिन्तकों के आसपास शिष्यों, उपासकों एवं श्रद्धालुओं का एक वर्त्तुल खड़ा हुआ। शिष्यों एवं प्रशिष्यों की परम्परा चली और उनकी अलग–अलग पहचान बनने लगी। इसी क्रम में निर्ग्रन्थ–परम्परा का उद्‌भव हुआ। जहाँ पार्श्व की परम्परा के श्रमण अपने को पार्श्वापत्य–निर्ग्रन्थ कहने लगे, वहीं वर्द्धमान महावीर के श्रमण अपने को ज्ञात्रपुत्रीय–निर्ग्रन्थ कहने लगे। सिद्धार्थ गौतम बुद्ध का भिक्षुसंघ शाक्यपुत्रीय–श्रमण के नाम से पहचाना जाने लगा।

पार्श्व और महावीर की एकीकृत परम्परा निर्ग्रन्थ धारा के नाम से ज़ानी जाने लगी । 'निग्गंट्ठ' शब्द हमें जैनधर्म के पूर्व नाम के रूप में ही मिलता है। जैन शब्द तो महावीर के निर्वाण के लगभग एक हजार वर्ष बाद

अस्तित्व में आया है। अशोक (ई.पू. तृतीय शताब्दी), खारवेल (ई.पू. द्वितीय शताब्दी) आदि के शिलालेखों में जैनधर्म का उल्लेख निर्ग्रन्थ–संघ के रूप में ही हुआ है।

पार्श्व एवं महावीर की परम्परा

'ऋषिभाषित', 'उत्तराध्ययन', 'सूत्रकृतांग' आदि से ज्ञात होता है कि पहले निर्ग्रन्थ धर्म में नमि, बाहुक, कपिल, नारायण (तारायण), अंगिरस, भारद्वाज, नारद आदि ऋषियों को भी, जो कि वस्तुतः उसकी परम्परा के नहीं थे, अत्यन्त सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। पार्श्व और महावीर के समान इन्हें भी अर्हत् कहा गया था, किन्तु जब निर्ग्रन्थ–सम्प्रदाय पार्श्व और महावीर के प्रति केन्द्रित होने लगा, तो इन्हें प्रत्येक–बुद्ध के रूप में सम्मानजनक स्थान तो दिया गया, किन्तु अपरोक्ष रूप से अपनी परम्परा से पृथक् मान लिया गया। इस प्रकार, हम देखते हैं कि ई.पू. पाँचवीं शती में निर्ग्रन्थ संघ पार्श्व और महावीर की परम्परा तक सीमित हो गया। यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रारंभ में महावीर और पार्श्व की परम्पराएँ भी पृथक्–पृथक् ही थीं। यद्यपि उत्तराध्ययन एवं भगवती की सूचनानुसार महावीर के जीवनकाल में ही पार्श्व की परम्परा के कुछ श्रमण उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हो उनके संघ में सम्मिलित हुए थे, किन्तु महावीर के जीवन काल में महावीर और पार्श्व की परम्पराएँ पूर्णतः एकीकृत नहीं हो सकीं। 'उत्तराध्यन' में प्राप्त उल्लेख से ऐसा लगता है कि महावीर के निर्वाण के पश्चात् ही श्रावस्ती में महावीर के प्रधान शिष्य गौतम और पार्श्वपत्य–परम्परा के तत्कालीन आचार्य केशी ने परस्पर मिलकर दोनों संघों के एकीकरण की भूमिका तैयार की थी। यद्यपि आज हमारे पास ऐसा कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि पार्श्व की परम्परा पूर्णतः महावीर की परम्परा में विलीन हो गयी थी, फिर भी इतना निश्चित है कि पार्श्वपत्यों का एक बड़ा भाग महावीर की परम्परा में सम्मिलित हो गया था और महावीर की परम्परा ने पार्श्व को अपनी ही परम्परा के पूर्व–पुरुष के रूप में मान्य कर लिया था। पार्श्व के लिए 'पुरुषादानीय' शब्द का प्रयोग इसका प्रमाण है। कालान्तर में ऋषभ,

नमि और अरिष्टनेमि जैसे प्रागैतिहासिक–काल के महान् तीर्थंकरों को स्वीकार करके निर्ग्रन्थ–परम्परा ने अपने अस्तित्व को अति प्राचीनकालीन सिद्ध किया है।

वेदों एवं वैदिक–परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों से इतना तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि वातरसना मुनियों एवं व्रात्यों के रूप में श्रमणधारा उस युग में भी जीवित थी, जिसके पूर्व–पुरुष ऋषभ थे, फिर भी आज ऐतिहासिक–आधार पर यह बात कठिन है कि ऋषभ की दार्शनिक एवं आचार सम्बन्धी विस्तृत मान्यताएँ क्या थीं और वे वर्तमान जैन–परम्परा के कितनी निकट थीं, तो भी इतना निश्चित है कि ऋषभ संन्यास मार्ग के आद्य–प्रवर्त्तक के रूप में ध्यान और तप पर अधिक बल देते थे। प्राचीन जैन–ग्रन्थों में यह तो निर्विवाद रूप से मान लिया गया है कि ऋषभ भगवान् महावीर के समान पंच महाव्रत रूप धर्म के प्रस्तोता थे और उनकी आचार–व्यवस्था महावीर के अनुरुप ही थी। ऋषभ के उल्लेख ऋग्वेद से लेकर पुराणों तक में उपलब्ध हैं। डॉ. राधाकृष्णन् ने 'यजुर्वेद' में ऋषभ के अतिरिक्त अजित और अरिष्टनेमि के नामों की उपलब्धि की बात कही है। हिन्दू 'पुराणों' और 'भागवत' में ऋषभ का जो जीवन–चरित्र वर्णित है, वह जैन–परम्परा के अनुरूप है। बौद्ध–ग्रन्थ 'अंगुत्तरनिकाय' में पूर्वकाल के सात तीर्थंकरों का उल्लेख किया है, उसमें अरक (अर) का भी उल्लेख है। इसी प्रकार, 'थेरगाथा' में अजित थेर का उल्लेख है, उन्हें प्रत्येकबुद्ध कहा गया है, फिर भी मध्यवर्ती 22 तीर्थंकरों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक–साक्ष्य अधिक नहीं हैं, उनके प्रति हमारी आस्था का आधार जैन–आगम और जैन–कथा–ग्रन्थ ही हैं।

महावीर और आजीवक परम्परा

जैनधर्म के पूर्व–इतिहास की इस संक्षिप्त रूपरेखा देने के पश्चात् जब हम पुनः महावीर के काल की ओर आते हैं, तो 'कल्पसूत्र' एवं 'भगवती' में कुछ ऐसे सूचना–सूत्र मिलते हैं, जिनके आधार पर ज्ञातपुत्र श्रमण महावीर के पार्श्वपत्यों के अतिरिक्त आजीवकों के साथ भी सम्बन्धों की पुष्टि होती है।

जैनागमों और आगमिक–व्याख्याओं में यह माना गया है कि महावीर के दीक्षित होने के दूसरे वर्ष में ही मंखलीपुत्र गोशालक उनके निकट सम्पर्क में आया था, कुछ वर्ष दोनों साथ भी रहे, किन्तु नियतिवाद और पुरुषार्थवाद–सम्बन्धी मतभेदों के कारण दोनों अलग–अलग हो गये। हरमन जेकोबी ने तो यह कल्पना भी की है कि महावीर की निर्ग्रन्थ–परम्परा में नग्नता आदि जो आचार–मार्ग की कठोरता है, वह गोशालक की आजीवक–परम्परा का प्रभाव है। यह सत्य है कि गोशालक के पूर्व भी आजीवकों की एक परम्परा थी, जिसमें अर्जुन आदि आचार्य थे, फिर भी ऐतिहासिक–साक्ष्य के अभाव में यह कहना कठिन है कि कठोर साधना की यह परम्परा महावीर से आजीवक परम्परा में की गई या आजीवक गोशालक के द्वारा महावीर ली परम्परा में आई। क्योंकि इस तथ्य का कोई प्रमाण नहीं है कि महावीर से अलग होने के पश्चात् गोशालक आजीवक–परम्परा से जुड़ा था या वह प्रारंभ में ही आजीवक–परम्परा में दीक्षित होकर महावीर के पास आया था, फिर भी इतना निश्चित है कि ईसा की प्रथम–द्वितीय शताब्दी के बाद तक भी इस आजीवक–परम्परा का अस्तित्व रहा है। यह निर्ग्रन्थों एवं बौद्धों की एक प्रतिस्पर्धी श्रमण–परम्परा थी, जिसके श्रमण भी जैनों की दिगम्बर–शाखा के समान नग्न रहते थे। जैन और आजीवक–दोनों परम्पराएँ प्रतिस्पर्धी होकर भी एक–दूसरे को अन्य परम्पराओं की अपेक्षा अधिक सम्मान देती थीं, इस तथ्य की पुष्टि हमें बौद्धपिटक–साहित्य में उपलब्ध व्यक्तियों के षट्विध वर्गीकरण से होती है। वहाँ निर्ग्रन्थों को अन्य परम्परा के श्रमणों से ऊपर और आजीवक–परम्परा से नीचे स्थान दिया गया है। इस प्रकार, आजीवकों के निर्ग्रन्थ–संघ से जुड़ने एवं अलग होने की यह घटना निर्ग्रन्थ–परम्परा की एक महत्वपूर्ण घटना है, साथ ही निर्ग्रन्थों के प्रति अपेक्षाकृत उदार भाव दोनों संघों की आंशिक निकटता का भी सूचक है।

निर्ग्रन्थ परम्परा में महावीर के जीवनकाल में हुए संघ भेद

महावीर के जीवनकाल में निर्ग्रन्थ–संघ की अन्य महत्वपूर्ण घटना महावीर के जामातृ कहे जाने वाले जामालि से उनका वैचारिक–मतभेद

होना और जामालि का अपने पाँच सौ शिष्यों सहित उनके संघ से अलग होना है। 'भगवती', 'आवश्यकनिर्युक्ति' और परवर्ती ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण उपलब्ध है। निर्ग्रन्थ संघ–भेद की इस घटना के अतिरिक्त हमें बौद्धपिटक–साहित्य में एक अन्य घटना का उल्लेख भी मिलता है, जिसके अनुसार महावीर के निर्वाण होते ही उनके भिक्षुओं एवं श्वेत वस्त्रधारी श्रावकों में तीव्र विवाद उत्पन्न हो गया। निर्ग्रन्थ–संघ के इस विवाद की सूचना बुद्ध तक भी पहुँचती है, किन्तु पिटक–साहित्य में इस विवाद के कारण क्या थे, उसकी कोई चर्चा नहीं है। एक सम्भावना यह हो सकती है कि यह विवाद महावीर के उत्तराधिकारी के प्रश्न को लेकर हुआ होगा। श्वेताम्बर और दिगम्बर–परम्पराओं में महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी को लेकर मतभेद हैं। दिगम्बर–परम्परा महावीर के पश्चात् गौतम को पट्टधर मानती है, जबकि श्वेताम्बर–परम्परा सुधर्मा को। श्वेताम्बर परम्परा में महावीर के निर्वाण के समय गौतम को निकट के दूसरे ग्राम में किसी देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने हेतु भेजने की जो घटना वर्णित है, वह भी इस प्रसंग में विचारणीय हो सकती है, किन्तु दूसरी सम्भावना यह भी हो सकती है कि बौद्धों ने जैनों के श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्बन्धी परवर्ती विवाद को पिटकों के सम्पादन के समय महावीर के निर्वाण की घटना के साथ जोड़ दिया हो। मेरी दृष्टि में यदि ऐसा कोई विवाद घटित हुआ होगा, तो वह महावीर के अचेल एवं सचेल–श्रमणों के बीच हुआ होगा, क्योंकि पार्श्वापत्यों के महावीर के निर्ग्रन्थ–संघ में प्रवेश के साथ ही उनके संघ में नग्न और सवस्त्र– ऐसे दो वर्ग अवश्य ही बन गये होंगे और महावीर ने श्रमणों के इन दो वर्गों को सामायिक–चारित्र और छेदोपस्थापनीय–चरित्रधारी के रूप में विभाजित किया होगा। विवाद का कारण ये दोनों वर्ग ही रहे होंगे। मेरी दृष्टि में बौद्ध–परम्परा में जिन्हें श्वेत वस्त्रधारी श्रावक कहा गया, वे वस्तुतः सवस्त्र श्रमण ही होंगे, क्योंकि बौद्ध–परम्परा में श्रमण (भिक्षु) को भी श्रावक कहा जाता है, फिर भी इस सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है।

महावीर के निर्ग्रन्थ संघ की धर्म प्रसार–यात्रा

भगवान् महावीर के काल में उनके निर्ग्रन्थ–संघ का प्रभाव–क्षेत्र बिहार एवं पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा उनके आसपास का प्रदेश ही था, किन्तु महावीर के निर्वाण के पश्चात् इन सीमाओं में विस्तार होता गया, फिर भी आगमों और निर्युक्तियों की रचना तथा जैनधर्म के प्रारम्भिक–विकास–काल तक उत्तरप्रदेश, हरियाणा, पंजाब एवं पश्चिमी–राजस्थान के कुछ भाग तक ही निर्ग्रन्थों के विहार की अनुमति थी। तीर्थंकरों के कल्याण क्षेत्र भी यहीं तक सीमित थे। मात्र अरिष्टनेमि ही ऐसे तीर्थंकर हैं, जिनका सम्बन्ध शूरसेन (मथुरा के आसपास के प्रदेश) के अतिरिक्त सौराष्ट्र से भी दिखाया गया है और उनका निर्वाण स्थल गिरनार पर्वत माना गया है, किन्तु आगमों में द्वारिका और गिरनार की जो निकटता वर्णित है, वह यथार्थ स्थिति से भिन्न है। सम्भवतः, अरिष्टनेमि और कृष्ण के निकट सम्बन्ध होने के कारण ही कृष्ण के साथ–साथ अरिष्टनेमि का सम्बन्ध भी द्वारिका से रहा होगा। अभी तक इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक–साक्ष्यों का अभाव है। विद्वानों से अपेक्षा है कि इस दिशा में खोज करें।

जो कुछ ऐतिहासिक–साक्ष्य मिले हैं, उससे ऐसा लगता है कि निर्ग्रन्थ–संघ अपने जन्म स्थल बिहार से दो दिशाओं में अपने प्रचार–अभियान के लिए आगे बढ़ा। एक वर्ग दक्षिण–बिहार एवं बंगाल से उड़ीसा के रास्ते तमिलनाडु गया और वहीं से उसने श्रीलंका और स्वर्णदेश (जावा–सुमात्रा आदि) की यात्राएँ की। लगभग ई.पू. दूसरी शती में बौद्धों के बढ़ते प्रभाव के कारण निर्ग्रन्थों को श्रीलंका से निकाल दिया गया, फलतः वे पुनः तमिलनाडु में आ गये। तमिलनाडु में लगभग ई.पू. प्रथम–द्वितीय शती से ब्राह्मी लिपि में अनेक जैन अभिलेख मिलते हैं, जो इस तथ्य के साक्षी हैं कि निर्ग्रन्थ–संघ महावीर के निर्वाण के लगभग दो–तीन सौ वर्ष पश्चात् ही तमिल–प्रदेशों में पहुँच चुका था। मान्यता तो यह भी है कि आचार्य भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्य को दीक्षित करके दक्षिण गये थे। यद्यपि इसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता निर्विवाद रूप से सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि जो अभिलेख घटना का उल्लेख करता है, वह लगभग छठवीं–सातवीं शती का है। आज भी तमिल–जैनों की विपुल संख्या है और वे भारत में

जैनधर्म के अनुयायियों की प्राचीनतम परम्परा के प्रतिनिधि हैं। ये नयनार एवं पंचमवर्णी के रूप में माने जाते हैं। यद्यपि बिहार, बंगाल और उड़ीसा की प्राचीन जैन–परम्परा कालक्रम में विलुप्त हो गयी है, किन्तु सराक जाति के रूप में उस परम्परा के अवशेष आज भी शेष हैं। 'सराक' शब्द श्रावक का ही अपभ्रंश रूप है और आज भी इस जाति में रात्रि–भोजन और हिंसक–शब्दों जैसे काटो, मारो आदि के निषेध जैसे कुछ संस्कार शेष हैं। उपाध्याय ज्ञानसागरजी एवं कुछ श्वेताम्बर–मुनियों के प्रयत्नों से सराक पुनः जैनधर्म की ओर लौटे हैं।

उत्तर और दक्षिण के निर्ग्रन्थ श्रमणों में आचार–भेद

दक्षिण में गया निर्ग्रन्थ संघ अपने साथ विपुल प्राकृत जैन–साहित्य तो नहीं ले जा सकता, क्योंकि उस काल तक जैन–साहित्य के अनेक ग्रन्थों की रचना ही नहीं हो पायी थी। वह अपने साथ श्रुत–परम्परा के कुछ दार्शनिक विचारों एवं महावीर के कठोर आचार–मार्ग को ही लेकर चला था, जिसे उसने बहुत काल तक सुरक्षित रखा। आज की दिगम्बर–परम्परा का पूर्वज यही दक्षिणी अचेल निर्ग्रन्थ संघ है। इस सम्बन्ध में अन्य कुछ मुद्दे भी ऐतिहासिक–दृष्टि से विचारणीय हैं। महावीर के अपने युग में भी उनका प्रभाव क्षेत्र मुख्यतया दक्षिण बिहार ही था जिसका केन्द्र राजगृह था, जबकि बौद्धों एवं पार्श्वापत्यों का प्रभाव–क्षेत्र उत्तरी बिहार एवं पूर्वोत्तर उत्तरप्रदेश था, जिसका केन्द्र श्रावस्ती था। महावीर के अचेल निर्ग्रन्थ–संघ और पार्श्वनाथ सन्तरोत्तर (सचेल) निर्ग्रन्थ–संघ के सम्मिलन की भूमिका भी श्रावस्ती में गौतम और केशी के नेतृत्व में तैयार हुई थी। महावीर के सर्वाधिक चातुर्मास राजगृह नालन्दा में होना और बुद्ध के श्रावस्ती में होना भी इसी तथ्य का प्रमाण है। दक्षिण का जलवायु उत्तर की अपेक्षा गर्म था, अतः अचलता के परिपालन में दक्षिण में गये निर्ग्रन्थ–संघ को कोई कठिनाई नहीं हुई जबकि उत्तर के निर्ग्रन्थ–संघ में कुछ पार्श्वपत्यों के प्रभाव से और कुछ अति शीतल जलवायु के कारण यह अचेलता अक्षुण्ण नहीं रह सकी और एक वस्त्र रखा जाने लगा। स्वभाव से भी दक्षिण की अपेक्षा उत्तर के निवासी अधिक

सुविधावादी होते हैं। बौद्धधर्म में भी बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् सुविधाओं की माँग वात्सीपुत्रीय भिक्षुओं ने ही की थी, जो उत्तरी तराई–क्षेत्र के थे। बौद्धपिटक–साहित्य में निर्ग्रन्थों को एक–शाटक और आजीवकों को नग्न कहा गया है। यह भी यही सूचित करता है कि लज्जा और शीत–निवारण हेतु उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ कम–से–कम एक वस्त्र तो रखने लग गया था। मथुरा में ईस्वी सन् प्रथम शताब्दी के आसपास की जैन–श्रमणों की जो मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है, उनमें सभी में श्रमणों को कम्बल जैसे एक वस्त्र से युक्त दिखाया गया है। वे सामान्यतया नग्न रहते थे, किन्तु भिक्षा या जनसमाज में जाते समय वह वस्त्र या कम्बल हाथ पर डालकर अपनी नग्नता छिपा लेते थे और अति शीत आदि की स्थिति में उसे ओढ़ भी लेते थे। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के आठवें अध्ययन में अचेल–श्रमणों के साथ–साथ एक, दो और तीन वस्त्र रखने वाले श्रमणों का उल्लेख है।

यह सुनिश्चित है कि महावीर बिना किसी पात्र के दीक्षित हुए थे। 'आचारांग' से उपलब्ध सूचना के अनुसार पहले तो वे गृही–पात्र का उपयोग कर लेते थे, किन्तु बाद में उन्होंने इसका भी त्याग कर दिया और पाणिपात्र हो गये अर्थात् हाथ में ही भिक्षा ग्रहण करने लगे। सचित्त जल का प्रयोग निषिद्ध होने से सम्भवतः सर्वप्रथम निर्ग्रन्थ–संघ में शौच के लिए जलपात्र का ग्रहण किया गया होगा, किन्तु भिक्षुओं की बढ़ती हुई संख्या और एक ही घर से प्रत्येक भिक्षु को पेट भर भोजन न मिल पाने के कारण आगे चलकर भिक्षा हेतु भी पात्र का उपयोग प्रारम्भ हो गया होगा। इसके अतिरिक्त, बीमार और अतिवृद्ध भिक्षुओं की परिचर्या के लिए भी पात्र में आहार लाने और ग्रहण करने की परम्परा प्रचलित हो गई होगी। मथुरा में ईसा की प्रथम–द्वितीय शती की एक जैन–श्रमण की प्रतिमा मिली है, जो अपने हाथ में एक पात्रयुक्त झोली और दूसरे में प्रतिलेखन (रजोहरण) लिए हुए है। इस झोली का स्वरूप आज श्वेताम्बर–परम्परा में विशेष रूप से स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा में प्रचलित झोली के समान है। यद्यपि मथुरा के अंकनों में हाथ में खुला पात्र भी प्रदर्शित है। इसके अतिरिक्त, मथुरा के अंकन में मुनियों एवं साध्वियों के हाथ में मुखवस्त्रिका (मुँह–पत्ति) और प्रतिलेखन (रजोहरण) के अंकन उपलब्ध होते हैं।

प्रतिलेखन के अंकन दिगम्बर–परम्परा में प्रचलित मयूरपिच्छि और श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित रजोहरण दोनों ही आकारों में मिलते हैं। यद्यपि स्पष्ट साहित्यिक और पुरातात्त्विक साक्ष्य के अभाव में यह कहना कठिन है कि वे प्रतिलेखन मयूरपिच्छि के बने होते थे या अन्य किसी वस्तु के। दिगम्बर–परम्परा में मान्य यापनीय–ग्रन्थ मूलाचार और भगवती आराधना में प्रतिलेखन (पडिलेहण) और उसके गुणों का तो वर्णन है, किन्तु यह स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि वे किस वस्तु के बने होते थे। इस प्रकार, ईसा की प्रथम शती के पूर्व उत्तर–भारत के निर्ग्रन्थ संघ में वस्त्र, पात्र, झोली, मुखवस्त्रिका और प्रतिलेखन (रजोहरण) का प्रचलन था। सामान्यतया, मुनि नग्न ही रहते थे और साध्वियाँ साड़ी पहनती थीं। मुनि वस्त्र का उपयोग विशेष परिस्थिति में मात्र शीत एवं लज्जा–निवारण हेतु करते थे। मुनियों के द्वारा सदैव वस्त्र धारण किये रहने की परम्परा नहीं थी। इसी प्रकार, अंकनों में मुखवस्त्रिका भी हाथ में ही प्रदर्शित है, न कि वर्त्तमान स्थानकवासी और तेरापंथी–परम्पराओं के अनुरूप मुख पर बंधी हुई दिखाई गई है। प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर–आगम–ग्रन्थ भी इन्हीं तथ्यों की पुष्टि करते हैं। श्वेताम्बर–परम्परा में मुनि के जिन 14 उपकरणों का उल्लेख मिला है, वे सम्भवतः ईसा की दूसरी–तीसरी शती तक निश्चित हो गये थे।

महावीर के पश्चात् निर्ग्रन्थ संघ में हुए संघभेद

महावीर के निर्वाण और मथुरा के अंकन के बीच लगभग पाँच सौ वर्षों के इतिहास से हमें जो महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं, वे निह्नवों के दार्शनिक एवं वैचारिक–मतभेदों एवं संघ के विभिन्न गणों, शाखाओं, कुलों एवं सम्भोगों में विभक्त होने से सम्बन्धित हैं। 'आवश्यकनिर्युक्ति' सात निह्नवों का उल्लेख करती है, इनमें से जामालि और तिष्यगुप्त तो महावीर के समय में हुए थे, शेष पॉच आषाढ़भूति, अश्वामित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्टमहिल महावीर–निर्वाण के पश्चात् 214 वर्ष से 584 वर्ष के बीच हुए। वे निह्नव किन्हीं दार्शनिक–प्रश्नों पर निर्ग्रन्थ–संघ की परम्परागत मान्यताओं से मतभेद रखते थे, किन्तु इनके द्वारा निर्ग्रन्थ–संघ में किसी नवीन

सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई हो, ऐसी कोई भी सूचना उपलब्ध नहीं होती। इस काल में निर्ग्रन्थ–संघ में गण और शाखा–भेद भी हुए, किन्तु वे किन दार्शनिक एवं आचार–सम्बन्धी मतभेद को लेकर हुए थे, यह ज्ञात नहीं होता है। मेरी दृष्टि में व्यवस्थागत सुविधाओं एवं शिष्य–प्रशिष्यों की परम्पराओं को लेकर ही ये गण या शाखा–भेद हुए होंगे। यद्यपि 'कल्पसूत्र' स्थविरक्ती में षडलुक रोहगुप्त से त्रैराशिक शाखा निकलने का उल्लेख हुआ है। रोहगुप्त त्रैराशिक–मत के प्रवक्ता एक निह्नव माने गये हैं। अतः, यह स्पष्ट है कि इन गणों एवं शाखाओं में कुछ मान्यता–भेद भी रहे होंगे, किन्तु आज हमारे पास यह जानने का कोई साधन नहीं है।

'कल्पसूत्र' की स्थविरावली तुंगीययन–गोत्रीय आर्य यशोभद्र के दो शिष्यों माढर गोत्रीय सम्भूतिविजय और प्राची (पौर्वात्य)–गोत्रीय भद्रबाहु का उल्लेख करती हैं। 'कल्पसूत्र' में गणों और शाखाओं की उत्पत्ति बताई गई है, जो एक ओर आर्य भद्रबाहु के शिष्य काश्यप–गोत्रीय गोदास से एवं दूसरी ओर स्थूलिभद्र के शिष्य–प्रशिष्यों से प्रारम्भ होती है। गोदास से गोदासगण की उत्पत्ति हुई और उसकी चार शाखाएँ ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षीया, पौण्ड्रवर्द्धनिका और दसकर्पाटिका निकली हैं। इसके पश्चात्, भद्रबाहु की परम्परा कैसे आगे बढ़ी, इस सम्बन्ध में 'कल्पसूत्र' की स्थाविरावली में कोई निर्देश नहीं है। इन शाखाओं के नामों से भी ऐसा लगता है कि भद्रबाहु की शिष्य–परम्परा बंगाल और उड़ीसा से दक्षिण की ओर चली गई होगी। दक्षिण में गोदासगण का एक अभिलेख भी मिला है। अतः, यह मान्यता समुचित ही है कि भद्रबाहु की परम्परा से ही आगे चलकर दक्षिण की अचेलक–निर्ग्रन्थ–परम्परा का विकास हुआ।

श्वेताम्बर–परम्परा पाटलिपुत्र की वाचना के समय भद्रबाहु के नेपाल में होने का उल्लेख करती है, जबकि दिगम्बर–परम्परा चन्द्रगुप्त मौर्य को दीक्षित करके उनके दक्षिण जाने का उल्लेख करती है। सम्भव है कि वे अपने जीवन के अन्तिम चरण में उत्तर से दक्षिण चले गये हों। उत्तर–भारत के निर्ग्रन्थ–संघ की परम्परा सम्भूतिविजय के प्रशिष्य स्थूलिभद्र के शिष्यों से आगे बढ़ी। 'कल्पसूत्र' में वर्णित गोदासगण और उसकी उपर्युक्त चार शाखाओं को छोड़कर शेष सभी गणों, कुलों और शाखाओं

का सम्बन्ध स्थूलिभद्र की शिष्य–प्रशिष्य परम्परा से ही है। इसी प्रकार, दक्षिण का अचेल निर्ग्रन्थ–संघ भद्रबाहु की परम्परा से और उत्तर का सचेल–निर्ग्रन्थ संघ स्थूलिभद्र की परम्परा से विकसित हुआ। इस संघ में बलिस्सहगण, उद्धेहगण, कोटिकगण, चारणगण, मानवगण, वेसवाडियगण, उड्डवाडियगण आदि प्रमुख गण थे। इन गणों की अनेक शाखाएँ एवं कुल थे। 'कल्पसूत्र' की स्थविरावली इन सबका उल्लेख तो करती है, किन्तु इसके अन्तिम भाग में मात्र कोटिकगण की वज्री शाखा की आचार्य–परम्परा दी गई है, जो देवर्द्धिक्षमाश्रमण (वीर निर्वाण सं. 180) तक जाती है। स्थूलभद्र के शिष्य–प्रशिष्यों की परम्परा में उद्भूत जिन विभिन्न गणों, शाखाओं एवं कुलों की सूचना हमें 'कल्पसूत्र' की स्थविरावली से मिलती है, उसकी पुष्टि मथुरा के अभिलेखों से हो जाती है, जो 'कल्पसूत्र' की स्थविरावली की प्रामाणिकता को सिद्ध करती है। दिगम्बर परम्परा में महावीर के निर्वाण से लगभग एक हजार वर्ष पश्चात् तक की जो पट्टावली उपलब्ध है, एक तो वह पर्याप्त परवर्ती है, दूसरी भद्रबाहु के नाम के अतिरिक्त उसकी पुष्टि का प्राचीन साहित्यिक और अभिलेखीय कोई साक्ष्य नहीं है। भद्रबाहु के सम्बन्ध में भी जो साक्ष्य हैं, वे पर्याप्त परवर्ती हैं। अतः, ऐतिहासिक–दृष्टि से उनकी प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लगाये जा सकते हैं। महावीर के निर्वाण से ईसा की प्रथम एवं द्वितीय शताब्दी तक के जो महत्वपूर्ण परिवर्तन उत्तर–भारत के निर्ग्रन्थ–संघ में हुए, उन्हें समझने के लिए अर्द्धमागधी–आगमों के अतिरिक्त मथुरा का शिल्प एवं अभिलेख हमारी बहुत–अधिक मदद करते हैं। मथुरा–शिल्प की विशेषता यह है कि तीर्थंकर–प्रतिमाएँ नग्न हैं, मुनि नग्न होकर भी वस्त्र (कम्बल) से अपनी नग्नता छिपाये हुए हैं। वस्त्र के अतिरिक्त पात्र, झोली, मुखवस्त्रिका और प्रतिलेखन भी मुनि के उपकरणों में समाहित हैं। मुनियों के नाम, गण, शाखा, कुल आदि श्वेताम्बर परम्परा के 'कल्पसूत्र' की स्थविरावली से मिलते हैं। इस प्रकार, ये श्वेताम्बर परम्परा की पूर्व स्थिति के सूचक हैं। जैनधर्म में तीर्थंकर–प्रतिमाओं के अतिरिक्त स्तूप के निर्माण की परम्परा भी थी, यह भी मथुरा के शिल्प से सिद्ध हो जाता है।

यापनीय या बोटिक–संघ का उद्भव

ईसा की द्वितीय शती में महावीर के निर्वाण के छः सौ नौ वर्ष पश्चात् उत्तर भारत निर्ग्रन्थ–संघ में विभाजन की एक अन्य घटना घटित हुई, फलतः उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ–संघ सचेल एवं अचेल ऐसे दो भागों में बँट गया। पार्श्वापत्यों के प्रभाव से आपवादिक रूप में एवं शीतादि के निवारणार्थ गृहीत हुए वस्त्र, पात्र आदि जब मुनि की अपरिहार्य उपधि बनने लगे, तो परिग्रह की इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोकने के प्रश्न पर आर्य कृष्ण और आर्य शिवभूति में मतभेद हो गया। आर्य कृष्ण जिनकल्प का उच्छेद बताकर गृहीत वस्त्र–पात्र को मुनिचर्या का अपरिहार्य अंग मानने लगे, जबकि आर्य शिवभूति ने इसके त्याग और जिनकल्प के आचरण पर बल दिया। उनका कहना था कि समर्थ के लिये जिनकल्प का निषेध नहीं मानना चाहिए। वस्त्र, पात्र का ग्रहण अपवाद–मार्ग है, उत्सर्ग–मार्ग तो अचेलता ही है। आर्य शिवभूति की उत्तर–भारत की इस अचेल परम्परा को श्वेताम्बरों ने बोटिक (भ्रष्ट) कहा, किन्तु आगे चलकर यह परम्परा यापनीय के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हुई। गोपांचल में विकसित होने के कारण यह गोप्यसंघ नाम से भी जानी जाती थी। 'षट्दर्शनसमुच्चय' की टीका में गुणरत्न ने गोप्यसंघ एवं यापनीय–संघ को पर्यायवाची बताया है। यापनीय–संघ की विशेषता यह थी कि एक ओर यह श्वेताम्बर–परम्परा के समान 'आचारांग', 'सूत्रकृतांग', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक' आदि अर्द्धमागधी आगम–साहित्य को मान्य करता था, जो कि उसे उत्तराधिकार में ही प्राप्त हुआ था, साथ ही वह सचेल, स्त्री और अन्यतैर्थिकों की मुक्ति को स्वीकार करता था। आगम साहित्य के वस्त्र–पात्र सम्बन्धी उल्लेखों को वह साध्वियों एवं आपवादिक स्थिति में मुनियों से सम्बन्धित मानता था, किन्तु दूसरी ओर वह दिगम्बर–परम्परा के समान वस्त्र और पात्र का निषेध कर मुनि की नग्नता पर बल देता था। यापनीय मुनि नग्न रहते थे और पाणितलभोजी (हाथ में भोजन करने वाले) होते थे। इनके आचार्यों ने उत्तराधिकार में प्राप्त आगमों से गाथायें लेकर शौरसेनी–प्राकृत में अनेक ग्रन्थ बनाये। इनमें 'कषायप्राभृत', 'षट्खण्डागम', 'भगवती आराधना', 'मूलाचार' आदि प्रसिद्ध हैं।

दक्षिण–भारत में अचेल–निर्ग्रन्थ–परम्परा का इतिहास ईस्वी सन् की तीसरी–चौथी शती तक अन्धकार में ही है। इस सम्बन्ध में हमें न तो विशेष साहित्यिक–साक्ष्य ही मिलते हैं और न अभिलेखीय ही। यद्यपि इस काल के कुछ पूर्व के ब्राह्मी–लिपि के अनेक गुफा–अभिलेख तमिलनाडु में पाये जाते हैं, किन्तु वे श्रमणों या निर्माता के नाम के अतिरिक्त कोई जानकारी नहीं देते। तमिलनाडु में अभिलेखयुक्त जो गुफायें हैं, वे सम्भवतः निर्ग्रन्थ के समाधिमरण करने के स्थल रहे होंगे। संगम्–युग के तमिल–साहित्य से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि जैन–श्रमणों ने भी तमिल–भाषा के विकास और समृद्धि में अपना योगदान दिया था। तिरूकुरल के जैनाचार्यकृत होने की भी एक मान्यता है। ईसा की चौथी शताब्दी में तमिल देश का यह निर्ग्रन्थ–संघ कर्णाटक के रास्ते उत्तर की ओर बढ़ा, उधर उत्तर का निर्ग्रन्थ–संघ सचेल (श्वेताम्बर) और अचेलक (यापनीय) इन दो भागों में विभक्त होकर दक्षिण में गया। सचेल–श्वेताम्बर–परम्परा राजस्थान, गुजरात एवं पश्चिमी–महाराष्ट्र होती हुई उत्तर–कर्नाटक पहुँची तो अचेल यापनीय परम्परा बुन्देलखण्ड एवं विदिशा होकर विंध्य और सतपुड़ा को पार करती हुई पूर्वी–महाराष्ट्र से होकर उत्तरी–कर्नाटक पहुँची। ईसा की पाँचवी शती में उत्तरी–कर्नाटक में मृगेशवर्मा के जो अभिलेख मिले हैं, उनसे उस काल में जैनों के पॉच संघों के अस्तित्व की सूचना मिलती है– 1. निर्ग्रन्थ–संघ, 2. मूल–संघ, 3. यापनीय–संघ, 4. कुचर्क–संघ और, 5. श्वेतपट महाश्रमण–संघ। इसी काल में पूर्वोत्तर–भारत में वटगोहली से प्राप्त ताम्रपत्र में पंचस्तूपान्वय के अस्तित्व की भी सूचना मिलती है। इस युग का श्वेतपट महाश्रमण–संघ अनेक कुलों एवं शाखाओं में विभक्त था, जिसका सम्पूर्ण विवरण कल्पसूत्र एवं मथुरा के अभिलेखों से प्राप्त होता है।

महावीर के निर्वाण के पश्चात् से लेकर ईसा की पाँचवीं शती तक एक हजार वर्ष की इस सुदीर्घ अवधि में अर्द्धमागधी आगम–साहित्य का निर्माण एवं संकलन होता रहा है। अतः, आज हमें जो आगम उपलब्ध हैं, वे न तो एक व्यक्ति की रचना हैं और न एक काल की। मात्र इतना ही नहीं, एक ही आगम में विविध कालों की सामग्री संकलित है। इस अवधि

में सर्वप्रथम-ई.पू. तीसरी शती में पाटलीपुत्र में प्रथम वाचना हुई, सम्भवतः इस वाचना में अंगसूत्रों एवं पार्श्वपत्य–परम्परा के पूर्व–साहित्य के ग्रंथों का संकलन हुआ। पूर्व–साहित्य के संकलन का प्रश्न इसलिए महत्वपूर्ण बन गया था कि पार्श्वपत्य–परम्परा लुप्त होने लगी थी। इसके पश्चात् आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा में और आर्य नागार्जुन की अध्यक्षता में वल्लभी में समानान्तर वाचनाएँ हुईं, जिनमें अंग, उपांग आदि आगम संकलित हुए। इसके पश्चात् वीर निर्वाण 980 अर्थात ई. सन् की पाँचवीं शती में वल्लभी में देवर्द्धिक्षमाश्रमण के नेतृत्व में अन्तिम वाचना हुई। वर्त्तमान आगम इसी वाचना का परिणाम है, फिर भी देवर्द्धि इन आगमों के सम्पादक ही हैं, रचनाकार नहीं। उन्होंने मात्र ग्रंथों को सुव्यवस्थित किया। इन ग्रन्थों की सामग्री तो उनके पहले की है। अर्द्धमागधी–आगमों में जहाँ 'आचारांग' एवं 'सूत्रकृतांग' के प्रथम श्रुतस्कंध, 'ऋषिभाषित', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक' आदि प्राचीन स्तर के, अर्थात् ई.पू. के ग्रन्थ हैं, वहीं समवायांग, वर्त्तमान 'प्रश्न व्यापकरण' आदि पर्याप्त परवर्ती अर्थात् लगभग ई.स. की पाँचवीं शती के हैं। 'स्थानांग', 'अंतकृतदशा', 'ज्ञाताधर्मकथा' और भगवती का कुछ अंश प्राचीन ई.पू. का है, तो कुछ पर्याप्त परवर्ती है। उपांग साहित्य में अपेक्षाकृत रूप में 'सूर्यप्रज्ञपि' राजप्रश्नीय' 'प्रज्ञापना' प्राचीन है। उपांगों की अपेक्षा भी छेद–सूत्रों की प्राचीनता निर्विवाद है। इसी प्रकार प्रकीर्ण साहित्य में अनेक ग्रंथ ऐसे हैं, जो कुछ अंगों और उपांगों की अपेक्षा भी प्राचीन है। फिर भी सम्पूर्ण अर्धमागधी आगम–साहित्य को अन्तिम रूप लगभग ई.सन् की छठी शती के पूर्वार्द्ध में मिला, यद्यपि इसके बाद भी इसमें कुछ प्रक्षेप और परिवर्तन हुए हैं। ईसा की छठी शताब्दी के पश्चात् से दसवीं–ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य तक मुख्यतः आगमिक–व्याख्या–साहित्य के रूप में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीकाएँ लिखी गई, यद्यपि कुछ निर्युक्तियाँ प्राचीन भी हैं। इस काल में इन आगमिक–व्याख्याओं के अतिरिक्त स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे गये। इस काल के प्रसिद्ध आचार्यों में सिद्धसेन, जिनभद्रगणि, शिवार्य, वट्टकेर, कुन्दकुन्द, अकलंक, समन्तभद्र, विद्यानन्द, जिनसेन, स्वयम्भू, हरिभद्र, सिद्धर्षि, शीलांक, अभयदेव आदि प्रमुख हैं। दिगम्बरों में तत्त्वार्थ की विविध टीकाओं और

पुराणों के रचनाकाल का भी यही युग है।

निर्ग्रन्थ–परम्परा में विकृतियों का प्रवेश

(अ) हिन्दू वर्ण एवं जाति व्यवस्था का जैनधर्म पर प्रभाव

मूलतः श्रमण–परम्परा और जैनधर्म हिन्दू–वर्ण–व्यवस्था के विरुद्ध खड़े हुए थे, किन्तु कालक्रम में बृहद् हिन्दू–समाज के प्रभाव से उसमें भी वर्ण एवं जाति–सम्बन्धी अवधारणाएँ प्रविष्ट हो गईं। जैन–परम्परा में जाति और वर्ण–व्यवस्था के उद्‌भव एवं ऐतिहासिक–विकास का विवरण सर्वप्रथम 'आचारांगनिर्युक्ति' (लगभग ईस्वी सन् तीसरी शती) में प्राप्त होता है। इसके अनुसार, प्रारम्भ में मनुष्य–जाति एक ही थी। ऋषभ के द्वारा राज्य–व्यवस्था का प्रारम्भ होने पर उसके दो विभाग हो हुये– 1. शासक (स्वामी) 2. शासित (सेवक), उसके पश्चात् शिल्प और वाणिज्य के विकास के साथ उसके तीन विभाग हए– 1. क्षत्रिय (शासक), 2. वैश्य (कृषक और व्यवसायी) और 3. शूद्र (सेवक)। उसके पश्यात् श्रावक–धर्म की स्थापना होने पर अहिंसक, सदाचारी और धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को ब्राह्मण (माहण) कहा गया। इस प्रकार, क्रमशः चार वर्ण अस्तित्व में आए। इन चार वर्णों के स्त्री–पुरुषों के समवर्णीय अनुलोम एवं प्रतिलोम–संयोग से सोलह वर्ण बनें, जिनमें सात वर्ण और नौ अन्तर वर्ण कहलाए। सात वर्ण में समवर्णीय स्त्री–पुरुष के संयोग से चार मूल वर्ण तथा ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्रिय स्त्री के संयोग के उत्पन्न, क्षत्रिय पुरुष एवं वैश्य स्त्री के संयोग से उत्पन्न और वैश्य पुरुष एवं शूद्र स्त्री के संयोग से उत्पन्न, ऐसे अनुलोम संयोग से उत्पन्न तीन वर्ण। 'आचारांगचूर्णि' (ईसा की 7वीं शती) में इसे स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि 'ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्राणी के संयोग से जो सन्तान उत्पन्न होती है, वह उत्तम क्षत्रिय, शुद्ध क्षत्रिय या संकर क्षत्रिय कही जाती है, यह पाँचवाँ वर्ण है। इसी प्रकार, क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न सन्तान उत्तम वैश्य, शुद्ध वैश्य या संकर वैश्य कही जाती है, यह छठवाँ वर्ण है तथा वैश्य पुरुष एवं शूद्र–स्त्री के संयोग से उत्पन्न सन्तान शुद्ध शूद्र या संकर शूद्र कही जाती है, यह सातवाँ वर्ण है। पुनः, अनुलोम और प्रतिलोम–सम्बन्धों के आधार पर निम्नलिखित नौ अन्तर–वर्ण बने।

ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री से 'अम्बष्ठ' नामक आठवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय पुरुष और शुद्र स्त्री से 'उग्र' नामक नवाँ वर्ण हुआ, ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री से निषाद' नामक दसवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ, शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री से 'अयोग' नामक ग्यारहवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय और ब्राह्मणी से 'सूत' नामक तेरहवाँ वर्ण हुआ, शूद्र पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से 'क्षत्रा' (खन्ना) नामक चौदहवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ, वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री के संयोग से 'वेदेह' नामक पन्द्रहवाँ वर्ण हुआ और शुद्र पुरुष तथा ब्राह्मण स्त्री के संयोग से 'चाण्डाल' नामक सोलहवां वर्ण हुआ। इसके पश्चात् इन सोलह वर्णों में परस्पर अनुलोम एवं प्रतिलोम–संयोग से अनेक जातियाँ अस्तित्व में आईं।

उपर्युक्त विवरण में हम यह देखते हैं कि जैनधर्म के आचार्यों ने भी काल–क्रम में जाति और वर्ण की उत्पत्ति के सन्दर्भ में हिन्दू–परम्परा की व्यवस्थाओं को अपने ढंग से संशोधित कर स्वीकार कर लिया। लगभग सातवीं शती में दक्षिण–भारत में हुए आचार्य जिनसेन ने लोकापवाद के भय से तथा जैन धर्म का अस्तित्व और सामाजिक–सम्मान बनाये रखने के लिए हिन्दू–वर्ण एवं जाति–व्यवस्था को इस प्रकार आत्मसात कर लिया कि इस सम्बन्ध में जैनों का जो वैशिष्ट्य था, वह प्रायः समाप्त हो गया। जिनसेन ने सर्वप्रथम यह बताया कि आदि ब्रह्मा ऋषभदेव ने षट्कर्मों का उपदेश देने के पश्चात् तीन वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) की सृष्टि की। इसी ग्रन्थ में आगे यह भी कहा गया है कि जो क्षत्रिय और वैश्य–वर्ण की सेवा करते हैं, वे शूद्र हैं। इनके दो भेद हैं– कारु और अकारु। पुनः, कारु के भी दो भेद हैं– स्पृश्य और अस्पृश्य। धोबी, नापित आदि स्पृश्य शूद्र है और चाण्डाल आदि, जो नगर के बाहर रहते हैं, वे अस्पृश्य शूद्र है। (आदिपुराण', 16/184/186) शूद्रों के कारु और अकारु तथा स्पृश्य और अस्पृश्य– ये भेद सर्वप्रथम केवल पुराणकाल में जिनसेन ने किये हैं। उनके पूर्ववर्ती अन्य किसी जैन–आचार्य ने इस प्रकार के भेदों को मान्य नहीं किया है, किन्तु हिन्दू–समाज–व्यवस्था से प्रभावित होने के बाद के जैन–आचार्यों ने इसे प्रायः मान्य किया। 'षट्प्राभृत' के टीकाकार श्रुतसागर ने भी इस स्पृश्य–अस्पृश्य की चर्चा की

है। यद्यपि पुराणकार ने शूद्रों को एकशाटकव्रत अर्थात् क्षुल्लकदीक्षा का अधिकार मान्य किया था किन्तु बाद के दिगम्बर जैन आचार्यों ने उसमें भी कमी कर दी और शूद्र की मुनि–दीक्षा एक जिनमन्दिर में प्रवेश का भी निषेध कर दिया। श्वेताम्बर परम्परा में 'स्थानांग' (3/202) के मूलपाठ में तो केवल रोगी, भयार्त और नपुसंक की मुनि–दीक्षा का निषेध था, किन्तु परवर्ती टीकाकारों ने चाण्डालादि जाति–जुंगित और व्याधादि कर्मजुंगित लोगों को दीक्षा देने का निषेध कर दिया। यद्यपि यह सब जैनधर्म की मूल परम्परा के तो विरुद्ध ही था, फिर भी हिन्दू–परम्परा के प्रभाव से इसे मान्य कर लिया गया। स्थिति यहाँ तक पहुँची कि एक ही जैन धर्म के अनुयायी जातीय–भेद के आधार पर दूसरी जाति का छुआ हुआ खाने में, उन्हें साथ बिठाकर भोजन करने में आपत्ति करने लगे। शूद्र–जल का त्याग एक आवश्यक कर्त्तव्य हो गया और शूद्रों का जिन–मंदिर में प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया। श्वेताम्बर शाखा की एक परम्परा में केवल ओसवाल को आचार्यपद देने की अवधारणा विकसित हो गई।

इसी प्रकार, जहाँ प्राचीन स्तर की जैन–परम्परा की चारों ही वर्णों और सभी जातियों के व्यक्ति जिन पूजा करने, श्रावकधर्म एवं मुनिधर्म का पालन करने और साधना के सर्वोच्च लक्ष्य निर्वाण को प्राप्त करने के अधिकारी माने गये थे, वहीं सातवीं–आठवीं शती में जिनसेन ने सर्वप्रथम शूद्र को मुनि दीक्षा और मोक्ष प्राप्ति हेतु अयोग्य माना। श्वेताम्बर आगमों में कहीं शूद्र की दीक्षा का निषेध नहीं है, 'स्थानांग' में मात्र रोगी, भयार्त और नपुंसक की दीक्षा का निषेध है, किन्तु आगे चलकर उनमें भी जाति–जुंगित जैसे– चाण्डाल आदि और कर्म–जुंगित जैसे–कसाई आदि की दीक्षा का निषेध कर दिया गया, किन्तु यह बृहतर हिन्दू–परम्परा का प्रभाव ही था, जो कि जैनधर्म के मूल सिद्धान्त के विरुद्ध था। जैनों ने इसे केवल अपनी सामाजिक–प्रतिष्ठा को बनाए रखने हेतु मान्य किया, क्योंकि आगमों में हरिकेशबल, मेतार्य, मातंगमुनि आदि अनेक चाण्डालों के मुनि होने और मोक्ष प्राप्त करने के उल्लेख हैं।

(ब) जैनधर्म में मूर्तिपूजा तथा आडम्बरयुक्त कर्मकाण्ड का प्रवेश

यद्यपि जैन धर्म में मूर्त्ति और मंदिर निर्माण की परम्परा भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग सौ वर्ष पश्चात् नन्दों के काल से प्रारम्भ हो गई थी। हड़प्पा से प्राप्त एक नग्न कबन्ध जैन है या नहीं, यह निर्णय कर पाना कठिन है, किन्तु लोहानीपुर पटना से प्राप्त मौर्यकालीन जिन–प्रतिमा इस तथ्य का संकेत है कि जैन–धर्म में मूर्ति–उपासना की परम्परा रही है। तथापि उसमें यह सब अपनी सहवर्ती परम्पराओं के प्रभाव से आया है।

कर्मकाण्ड और आध्यात्मिक–साधनाएँ प्रत्येक धर्म के अनिवार्य अंग हैं। कर्मकाण्ड उसका शरीर है और आध्यात्मिक साधना उसका प्राण। भारतीय–धर्मों में प्राचीनकाल से ही हमें ये दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। जहाँ पारम्परिक वैदिक–परम्परा कर्म–काण्डात्मक अधिक रही है, वहाँ प्राचीन श्रमण–परम्पराएँ साधनात्मक अधिक रही है। फिर भी इन दोनों प्रवृत्तियों को एक–दूसरे से पूर्णतया पृथक् रख पाना कठिन है। श्रमण–परम्परा में आध्यात्मिक और धार्मिक–साधना के जो विधि–विधान बने थे, वे भी धीरे–धीरे कर्मकाण्ड के रूप में ही विकसित होते गये। अनेक आन्तरिक एवं बाह्य–साक्ष्यों से यह सुनिश्चित हो जाता है कि इनमें अधिकांश कर्मकाण्ड वैदिक या ब्राह्मण–परम्परा अथवा दूसरी अन्य परम्पराओं के प्रभाव से आये हैं।

जैन–परम्परा मूलतः श्रमण–परम्परा का ही एक अंग है और इसलिए यह अपने प्रारम्भिक रूप में कर्मकाण्ड की विरोधी एवं आध्यात्मिक साधना प्रधान रही है। मात्र यही नहीं, 'उत्तराध्ययन' जैसे प्राचीन जैन–ग्रन्थों में स्नान, हवन, यज्ञ आदि कर्मकाण्डों के विरोध से भी यही परिलक्षित होता है। जैसा हम पूर्व में बता चुके हैं कि उत्तराध्ययन की यह विशेषता है कि उसने धर्म के नाम पर किये जाने वाले इन कर्मकाण्डों एवं अनुष्ठानों को एक आध्यात्मिक रूप प्रदान किया था। तत्कालीन ब्राह्मण–वर्ग ने यज्ञ, श्राद्ध और तर्पण के नाम पर कर्मकाण्डों एवं अनुष्ठानों के माध्यम से सामाजिक–शोषण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ की थी, जैन–परम्परा ने उसका खुला विरोध किया था।

वस्तुतः, वैदिक कर्मकाण्ड की विरोधी जनजातियों एवं भक्तिमार्गी

परम्पराओं में धार्मिक अनुष्ठान के रूप में पूजा–विधि का विकास हुआ और श्रमण परम्परा में तपस्या और ध्यान का। समाज में यक्ष–पूजा के प्राचीनतम उल्लेख जैनागमों में उपलब्ध हैं। जनसाधारण में प्रचलित भक्तिमार्गी–धारा का प्रभाव जैन और बौद्ध–धर्मों पर भी पड़ा और उनमें तप, संयम एवं ध्यान के साथ–साथ जिन एवं बुद्ध की पूजा की भावना विकसित हुई। परिणामतः, प्रथम स्तूप, चैत्य आदि के रूप में प्रतीक–पूजा प्रारम्भ हुई, फिर सिद्धायतन (जिन–मन्दिर) आदि बने और बुद्ध एवं जिन–प्रतिमा की पूजा होने लगी, परिणामस्वरूप, जिन–पूजा, दान आदि को गृहस्थ का मुख्य कर्त्तव्य माना गया। दिगम्बर–परम्परा में तो गृहस्थ के लिए प्राचीन षडावश्यकों के स्थान पर षट् दैनिक कृत्यों जिन–पूजा, गुरु–सेवा, स्वाध्याय, तप, संयम एवं दान की कल्पना की गई। हमें 'आचारांग', 'सूत्रकृतांग', 'उत्तराध्ययन', 'भगवती' आदि प्राचीन आगमों में जिन–पूजा की विधि का इनकी अपेक्षा परवर्ती आगमों 'स्थानांग' आदि में जिन–प्रतिमा एवं जिन–मंदिर (सिद्धायतन) के उल्लेख हैं, किन्तु उनमें पूजा–सम्बन्धी किसी अनुष्ठान की चर्चा नहीं है, जबकि 'राजप्रश्नीय' में सूर्याभदेव और 'ज्ञाताधर्मकथा' में द्रौपदी के द्वारा जिन–प्रतिमाओं के पूजन के उल्लेख हैं। यह सब बृहद् हिन्दू–परम्परा का जैन–धर्म पर प्रभाव है।

'हरिवंशपुराण' में जिनसेन ने जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप और नैवैद्य का उल्लेख किया है। इस उल्लेख में भी अष्टद्रव्यों का क्रम यथावत् नहीं है और न जल का पृथक् निर्देश ही है। स्मरण रहे कि प्रतिमा–प्रक्षालन की प्रक्रिया का अग्रिम विकास अभिषेक है, जो अपेक्षाकृत और भी परवर्ती है।

'पद्मपुराण', 'पंचविंशति' (पद्मनन्दिकृत), 'आदिपुराण', 'हरिवंशपुराण', 'वसुनन्दि श्रावकाचार' आदि ग्रन्थों से अष्टद्रव्यों का फलादेश भी ज्ञात होता है। यह माना गया है कि अष्टद्रव्यों द्वारा पूजन करने से ऐहिक और पारलौकिक–अभ्युदयों की प्राप्ति होती है। 'भावसंग्रहट में भी अष्टद्रव्यों का पृथक्–पृथक् फलादेश बताया गया है।

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा प्रस्तुत विवरण हिन्दू–परम्परा के प्रभाव से दिगम्बर–परम्परा में पूजा–द्रव्यों के क्रमिक विकास को स्पष्ट कर देता है।

श्वेताम्बर–परम्परा में हिन्दुओं की पंचोपचारी–पूजा से अष्टप्रकारी–पूजा और उसी से सत्रह–भेदी पूजा विकसित हुई। यह सर्वोपचारी या सत्रह–भेदी पूजा वैष्णवों की षोडशोपचारी–पूजा का ही रूप है और बहुत–कुछ रूप में इसका उल्लेख 'राजप्रश्नीय' में उपलब्ध है।

इस समग्र चर्चा में हमें ऐसा लगता है कि जैन–परम्परा में सर्वप्रथम धार्मिक–अनुष्ठान के रूप में षडावश्यकों का विकास हुआ। उन्हीं षडावश्यकों में स्तवन या गुण–स्तुति का स्थान था, उसी से आगे चलकर भावपूजा प्रचलित हुई और फिर द्रव्यपूजा की कल्पना सामने आई, किन्तु द्रव्यपूजा का विधान केवल श्रावकों के लिए हुआ। तत्पश्चात्, श्वेताम्बर और दिगम्बर–दोनों परम्पराओं में जिन–पूजा–सम्बन्धी जटिल विधि–विधानों का जो विस्तार हुआ, वह सब ब्राह्मण–परम्परा का प्रभाव था। आगे चलकर, जिन–मन्दिर के निर्माण एवं जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में हिन्दुओं का अनुसरण करके अनेक प्रकार के विधि–विधान बनें। पं. फूलचंदजी सिद्धान्तशास्त्री ने 'ज्ञानपीठ पूजांजलि' की भूमिका में और डॉ. नेमिचन्दजी शास्त्री ने अपने एक लेख 'पुष्पकर्म–देवपूजाः विकास एवं विधि', जो उनकी पुस्तक 'भारतीय–संस्कृति के विकास में जैन वाङ्मय का अवदान' (प्रथम खण्ड), पृ. 371 पर प्रकाशित है, में इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि जैन–परम्परा में पूजा–द्रव्यों का क्रमशः विकास हुआ है। यद्यपि पुष्प–पूजा प्राचीनकाल से ही प्रचलित है, फिर भी यह जैन–परम्परा के आत्यन्तिक–अहिंसा–सिद्धान्त से मेल नहीं खाती है। एक ओर तो पूजा–विधान का पाठ, जिसमें होने वाली एकेन्द्रिय–जीवों की हिंसा का प्रायश्चित्त हो और दूसरी ओर पुष्प, जो स्वयं एकेन्द्रिय–जीव है, उन्हें जिन–प्रतिमा को समर्पित करना कहाँ तक संगतिपूर्ण हो सकता है। वह प्रायश्चित्त पाठ निम्नलिखित है–

ईयापथे प्रचलताम् मया प्रमादात्,
एकेन्द्रियप्रमुखजीवनिकायबाधा।
निद्वर्तिता यदि भवेव युगान्तरेक्षा,
मिथ्या तदस्तु दुरितं गुरुभक्तितो मे।।

स्मरणीय है कि श्वेताम्बर परम्परा में चैत्यवन्दन में भी **'इरियाविहिं**

विराहनाये' नामक पाठ बोला जाता है, जिसका तात्पर्य है– 'मैं चैत्यवन्दन के लिए जाने में हुई एकेन्द्रिय–जीवों की हिंसा का प्रायश्चित्त करता हूँ। दूसरी ओर, पूजा–विधानों में एवं होमों में पृथ्वी, वायु, अप, अग्नि और वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय–जीवों की हिंसा का विधान, एक आन्तरिक–असंगति तो है ही। सम्भवतः, हिन्दू–धर्म के प्रभाव से ईसा की छठवीं–सातवीं शताब्दी तक जैन–धर्म में पूजा–प्रतिष्ठा–सम्बन्धी अनेक कर्मकाण्डों का प्रवेश हो गया था, यही कारण है कि आठवीं शती में हरिभद्र को इनमें से अनेक का मुनियों के लिए निषेध करना पड़ा। हरिभद्र ने 'सम्बोधनप्रकरण' में चैत्यों में निवास, जिन–प्रतिमा की द्रव्य–पूजा, जिन–प्रतिमा के समक्ष नृत्य, गान, नाटक आदि का जैनमुनि के लिए निषेध किया है। मात्र इतना ही नहीं, उन्होंने उसी ग्रन्थ में द्रव्य–पूजा को अशुद्ध पूजा भी कहा है।'

सामान्यतः जैन–परम्परा में तपप्रधान अनुष्ठानों का सम्बन्ध कर्ममल को दूर कर मनुष्य के आध्यात्मिक–गुणों का विकास और पाशविक–आवेगों का नियन्त्रण रहा है। जिन–भक्ति और जिन–पूजा–सम्बन्धी अनुष्ठानों का उद्देश्य भी लौकिक–उपलब्धियों एवं विघ्न–बाधाओं का उपशमन न होकर व्यक्ति का अपना आध्यात्मिक–विकास ही है। जैन–साधक स्पष्ट रूप से इस बात को दृष्टि में रखता है कि प्रभु की पूजा और स्तुति केवल भक्त के स्व–स्वरूप या निज गुणों की उपलब्धि के लिए है।

जैन–परम्परा का उद्घोष है– **'वन्दे तद्गुण लब्धये'**, अर्थात् वन्दन का उद्देश्य परम्परा के गुणों की उपलब्धि है। जिनदेव की एवं हमारी आत्मा तत्वतः समान है, अतः वीतराग के गुणों की उपलब्धि का अर्थ है– स्वरूप की उपलब्धि। इस प्रकार, जैन–अनुष्ठान मूलतः आत्मविशुद्धि और स्वरूप की उपलब्धि के लिए हैं। जैन–अनुष्ठानों में जिन गाथाओं या मन्त्रों का पाठ किया जाता है, उनमें भी अधिकांशतः तो पूजनीय के स्वरूप का ही बोध कराते हैं अथवा आत्म के लिए पतनकारी–प्रवृत्तियों का अनुस्मरण कराकर उनसे मुक्त होने की प्रेरणा देते हैं।

यद्यपि जैन–अनुष्ठानों की मूल प्रकृति अध्यात्मपरक है, किन्तु मनुष्य की यह एक स्वाभाविक कमजोरी है कि वह धर्म के माध्यम से भौतिक–सुख–सुविधाओं की उपलब्धि चाहता है, साथ ही उनकी उपलब्धि में

बाधक शक्तियों के निवर्त्तन के लिए भी धर्म से ही अपेक्षा रखता है। वह धर्म को इष्ट की प्राप्ति ओर अनिष्ट के शमन का साधन मानता है। मनुष्य की इस स्वाभाविक–प्रवृत्ति का यह परिणाम हुआ कि हिन्दू–धर्म के प्रभाव से जैन–परम्परा में भी अनुष्ठानों का आध्यात्मिक–स्वरूप पूर्णतया स्थिर न रह सका, उसमें विकृति आई। वस्तुतः, इन्हीं विकृतियों के निराकरण के लिए स्थानकवासी अमूर्त्तिपूजक परम्परा अस्तित्व में आई। सत्य तो यह है कि जैन–धर्म का अनुयायी आखिर वही मनुष्य है, जो भौतिक–जीवन में सुख–समृद्धि की कामना से मुक्त नहीं है, अतः जैन–आचार्यों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे अपने उपासकों की जैन–धर्म में श्रद्धा बनाये रखने के लिए जैनधर्म के साथ कुछ ऐसे अनुष्ठानों को भी जोड़ें, जो अपने उपासकों के भौतिक कल्याण में सहायक हों। निवृत्तिप्रधान, अध्यात्मवादी एवं कर्मसिद्धान्त में अटल विश्वास रखने वाले जैनधर्म के लिए यह न्यायस गत तो नहीं था, फिर भी एक ऐतिहासिकसत्य है कि उसमें यह प्रवृत्ति वि सित हुई, जिसका निराकरण आवश्यक था।

जैनधर्म का तीर्थंकर व्यक्ति के भौतिक कल्याण में साधक या बाधक नहीं हो सकता है, अतः जैन–अनुष्ठानों में जिन–पूजा के साथ–साथ यक्ष–पक्षियों के रूप में शासन–देवता तथा देवी की पूजा की कल्पना विकसित हुई और यह माना जाने लगा कि तीर्थंकर अथवा अपनी उपासना से शासन देवता (यक्ष–यक्षी) प्रसन्न होकर उपासक का कल्याण करते हैं। शासनरक्षक देवी–देवताओं के रूप में सरस्वती, लक्ष्मी, अम्बिका, पद्मावती, चक्रेश्वरी, काली आदि अनेक देवियों तथा मणिभद्र, घण्टाकर्ण महावीर, पार्श्वयक्ष आदि यक्षों, दिक्पालों एवं अनेक क्षेत्रपालों (भैरवों) को जैन–परम्परा में स्थान मिला। इन सबकी पूजा के लिए जैनों ने विभिन्न अनुष्ठानों को किंचित् परिवर्तन के साथ हिन्दू परम्परा से ग्रहण कर लिया। 'भैरव पद्मावतीकल्प' आदि ग्रन्थों से इसकी पुष्टि होती है। जिन–पूजा और प्रतिष्ठा की विधि में वैदिक–परम्परा के अनेक ऐसे तत्व भी जुड़ गये जो जैन परम्परा के मूलभूत मन्तव्यों से भिन्न हैं। आज हम यह देखते हैं कि जैन परम्परा में चक्रेश्वरी, पद्मावती, अम्बिका, घण्टाकर्ण महावीर, नाकोड़ा–भैरव, भौमियाजी, दिक्पाल, क्षेत्रफल आदि की उपासना प्रमुख

होती जा रही है। जैन–धर्म में पूजा और उपासना का यह दूसरा पक्ष, जो हमारे सामने आया, वह मूलतः हिन्दू या ब्राह्मण परम्परा का प्रभाव ही है। जिन–पूजा एवं अनुष्ठान–विधियों में अनेक ऐसे मन्त्र मिलते हैं, जिन्हें ब्राह्मण परम्परा के तत्सम्बन्धी मन्त्रों का मात्र जैनीकरण कहा जा सकता है। उदाहरण के रूप में जिस प्रकार ब्राह्मण परम्परा में इष्ट देवता की पूजा के समय उसका आह्वान और विसर्जन किया जाता है, उसी प्रकार जैन परम्परा में भी पूजा के समय जिन के आह्वान और विसर्जन के मन्त्र बोले जाते हैं, यथा–

ऊँ ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र अवतर अवतर संवोषट्।
ऊँ ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः ।
ऊँ ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र मम सन्निहतो भवभव वषट्।
ऊँ ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् स्वस्थानं गच्छ गच्छ जः जः जः।

ये मन्त्र जैन दर्शन की मूलभूत मान्यताओं के प्रतिकूल हैं, क्योंकि जहाँ ब्राह्मण–परम्परा का यह विश्वास है कि आह्वान करने पर देवता आते हैं और विसर्जन करने पर चले जाते हैं, वहाँ जैन–परम्परा में सिद्धावस्था को प्राप्त तीर्थंकर न तो आह्वान करने पर उपस्थित हो सकते हैं और न विसर्जन करने पर जा सकते हैं। पं. फूलचन्दजी ने 'ज्ञानपीठ पूजांजलि' की भूमिका में विस्तार से इसकी चर्चा की है तथा आह्वान एवं विसर्जन–सम्बन्धी जैन–मन्त्रों की ब्राह्मण मन्त्रों से समानता भी दिखलाई है। तुलना कीजिये–

आवाहनं नैव जानामि नैव जानामि पूजनम्।
विसर्जनं न जानामि क्षमस्व परमेश्वर ।।1।।
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं द्रव्यहीनं तथैव च।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव रक्ष रक्ष जिनेश्वर ।।2।।

– विसर्जनपाठ

इसके स्थान पर ब्राह्मणधर्म में ये श्लोक उपलब्ध होते हैं–

आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम् ।
पूजनं नैव जानामि क्षमस्व परमेश्वर ।।1।।
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन ।

यत्पूजितं मया देव परिपूर्ण तदस्तु मे ।।2।।

इसी प्रकार, पंचोपचारपूजा, अष्टद्रव्यपूजा, यक्ष का विधान, विनायक–मन्त्र स्थापना, यज्ञोपवीतधारण आदि भी जैन–परम्परा के अनुकूल नहीं है। किन्तु जब पौराणिक धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा, तो पंचोपचारपूजा आदि विधियों का प्रवेश हुआ। दसवीं शती के अनन्तर इन विधियों को इतना महत्व प्राप्त हुआ कि पूर्व–प्रचलित विधि गौण हो गई। प्रतिमा के समक्ष रहने पर भी आह्वान सन्निविकरण, पूजन और विसर्जन क्रमशः पंचकल्याणकों की स्मृति के लिए व्यवहृत होने लगे। पूजा को वैयावृत्त का अंग माना जाने लगा तथा एक प्रकार से इसे 'आहारदान' के तुल्य महत्व प्राप्त हुआ। इस प्रकार, पूजा के समय सामायिक या ध्यान की मूल भावना में परिवर्तन हुआ और पूजा को अतिथिसंविभाग–व्रत का अंग मान लिया गया यह सभी ब्राह्मण परम्परा की अनुकृति ही हैं, यद्यपि इस सम्बन्ध में बोले जाने वाले मन्त्रों को निश्चित ही जैन रूप दे दिया गया है। जिस परम्परा में एक वर्ग ऐसा हो जो तीर्थंकर के कवलाहार का भी निषेध करता हो, वही तीर्थंकर की सेवा में नैवेद्य अर्पित करे, क्या यह सिद्धान्त की विडम्बना नहीं कहीं जायेगी? जैन–परम्परा ने पूजा–विधान के अतिरिक्त संस्कार–विधि में भी हिन्दू–परम्परा का अनुसरण किया गया है।

सर्वप्रथम, आचार्य जिनसेन ने 'आदिपुराण' में हिन्दू–संस्कारों को जैन–दृष्टि से संशोधित करके जैनों के लिए भी एक पूरी संस्कार–विधि तैयार की है। सामान्यतया, हिन्दुओं में जो सोलह संस्कारों की परम्परा है, उसमें निवृत्तिमूलक–परम्परा की दृष्टि से दीक्षा (संन्यासग्रहण) आदि कुछ संस्कारों की वृद्धि करके यह संस्कार–विधि तैयार की गई है। इनमें गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया और क्रियान्वय–क्रिया–ऐसे तीन विभाग किये गये हैं। इनमें गर्भ से लेकर निर्वाण पर्यन्त तक की क्रियाएँ बताई गई है। यह स्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा में जो संस्कार–विधि प्रचलित हुई, वह बृहद् हिन्दू–परम्परा से प्रभावित है। श्वेताम्बर–परम्परा में किसी संस्कार–विधि का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु व्यवहार में वे भी हिन्दू परम्परा में प्रचलित संस्कारों को यथावत् रूप में अपनाते हैं। उनमें आज भी विवाहादि–संस्कार हिन्दू परम्परानुसार ही ब्राह्मण–पण्डित के द्वारा सम्पन्न

कराए जाते हैं, अतः स्पष्ट है कि विवाहादि–संस्कारों के सम्बन्ध में भी जैन परम्परा पर हिन्दू–परम्परा का स्पष्ट प्रभाव है।

वस्तुतः, मन्दिर एवं जिनबिम्ब–प्रतिष्ठा आदि से सम्बन्धित अधिकांश अनुष्ठान ब्राह्मण–परम्परा की देन हैं और उसकी मूलभूत प्रकृति कहे जा सकते हैं। किसी भी परम्परा के लिए अपनी सहवर्ती परम्परा से पूर्णतया अप्रभावित रह पाना कठिन है और इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि जैन परम्परा की अनुष्ठान–विधियों में ब्राह्मण–परम्परा का प्रभाव आया, किन्तु श्रमण परम्परा के लिए यह विकृति–रूप ही था वस्तुतः, मन्दिर और मूर्ति निर्माण के साथ चैत्यवास और भट्टारक–परम्परा का विकास हुआ, जिसके विरोध में संविग्न–परम्परा और अमूर्त्तिपूजक–परम्पराएं अस्तित्व में आईं।

चैत्यवास और भट्टारक–परम्परा का उदय

मूर्त्ति और मन्दिर निर्माण के साथ उनके संरक्षण और व्यवस्था का प्रश्न आया, फलतः दिगम्बर परम्परा में भट्टारक–सम्प्रदाय और श्वेताम्बर में चैत्यवास का विकास लगभग ईसा की पाँचवीं शती में हुआ। यद्यपि जिन–मन्दिर और जिन–प्रतिमा के निर्माण के पुरातात्त्विक प्रमाण मौर्यकाल से तो स्पष्ट रूप में मिलने लगते हैं। शक और कुषाण युग में इसमें पर्याप्त विकास हुआ, फिर भी ईसा की 5वीं शती से 12वीं शती के बीच जैन शिल्प अपने सर्वोत्तम रूप को प्राप्त होता है। यह वस्तुतः चैत्यवास की देन है। दोनों परम्पराओं में इस युग में मुनि वनवास को छोड़कर चैत्यों, जिन–मन्दिरों में रहने लगे थे। केवल इतना ही नहीं, वे इन चैत्यों की व्यवस्था भी करने लगे थे। अभिलेखों से तो यहाँ तक सूचना मिलती है कि न केवल चैत्यों की व्यवस्था के लिए, अपितु मुनियों के आहार ओर तेलमर्दन आदि के लिए भी संभ्रान्त–वर्ग से दान प्राप्त किये जाते थे। इस प्रकार, इस काल में जैन–साधु मठाधीश बन गये थे, फिर भी इस सुविधाभोगी वर्ग के द्वारा जैन दर्शन, साहित्य एवं शिल्प का जो विकास इस युग में हुआ, उसकी सर्वोत्कृष्टता से इन्कार नहीं किया जा सकता। यद्यपि इस चैत्यवास में सुविधावाद के नाम पर जो शिथिलाचार विकसित हो रहा था, उसका

विरोध श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में हुआ। दिगम्बर–परम्परा में चैत्यवास और भट्टारक–परम्परा का विरोध सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द के 'अष्टपाहुडट' (लिंगपाहुड 1–22) में प्राप्त होता है। उनके पश्चात आशाधर, बनारसीदास आदि ने भी इसका विरोध किया। श्वेताम्बर परम्परा में सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्र ने इसके विरोध में लेखनी चलाई। 'सम्बोधप्रकरण' में उन्होंने इन चैत्यवासियों के आगम विरूद्ध आचार की खुलकर आलोचना की, यहां तक कि उन्हें नर–पिशाच भी कहदिया । चैत्यवास कीइसी प्रकार की आलोचना आगे चलकर जिनेश्वरसूरी, जिनचन्द्रसूरि आदि खरतरगच्छ के अन्य आचार्यों ने भी की। ईस्वी सन् की दसवीं शताब्दी में खरतरगच्छ का आविर्भाव भी चैत्यवास के विरोध में हुआ था, जिसका प्रारम्भिक–नाम सुविहित–मार्ग या संविग्न–पक्ष था। दिगम्बर–परम्परा में इस युग में द्रविड़–संघ, माथुर संघ, काष्टा–संघ आदि का उद्भव भी इसी काल में हुआ, जिन्हें दर्शनसार नामक ग्रन्थ में जैनाभास कहा गया।

इस सम्बन्ध में पं. नाथूरामजी 'प्रेमी' ने अपने ग्रन्थ 'जैन साहित्य और इतिहास' में 'चैत्यवास और वनवास' नामक शीर्षक के अन्तर्गत चर्चा की है, फिर भी उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यह कहना कठिन है कि इन विरोधों के बावजूद जैन–संघ इस बढ़ते हुए शिथिलताचार से मुक्ति पा सका, फिर भी यह विरोध जैनसंघ में अमूर्त्तिपूजक–सम्प्रदायों के उद्भव का प्रेरक अवश्य बना।

तन्त्र और भक्ति–मार्ग का जैन–धर्म पर प्रभाव

वस्तुतः, गुप्तकाल से लेकर दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी तक का युग पूरे भारतीय–समाज के लिए चरित्रबल के ह्रास और ललित कलाओं के विकास का युग है। यही काल है, जब खजुराहो और कोणार्क के मन्दिरों में कामुक अंकन किये गये। जिन–मन्दिर भी इस प्रभाव से अछूते नहीं रह सके। यही वह युग है, जब कृष्ण के साथ राधा और गोपियों की कथा को गढ़कर धर्म के नाम पर कामुकता का प्रदर्शन किया गया। इसी काल में तन्त्र और वाम–मार्ग का प्रचार हुआ, जिसकी अग्नि में बौद्ध–भिक्षु–संघ तो पूरी तरह जल मरा, किन्तु जैन–भिक्षु–संघ भी उसकी लपटों की झुलस

से बच न सका। अध्यात्मवादी जैनधर्म में भी तन्त्र का प्रभाव आया। हिन्दू–परम्परा के अनेक देवी–देवताओं को प्रकारान्तर से यक्ष, यक्षी अथवा शासन–देवियों के रूप में जैन–देवमण्डल का सदस्य स्वीकार कर लिया गया, उनकी कृपा या उनसे लौकिक–सुख–समृद्धि प्राप्त करने के लिए अनेक तान्त्रिक विधि–विधान बने। जैन–तीर्थंकर तो वीतराग था, अतः वह न तो भक्तों का कल्याण कर सकता था, न दुष्टों का विनाश, फलतः जैनों ने यक्ष–यक्षियों या शासन–देवता को भक्तों के कल्याण की ज़वाबदारी देकर अपने को युग–परम्परा के साथ समायोजित कर लिया।

इसी प्रकार, भक्ति–मार्ग का प्रभाव भी इस युग में जैन–संघ पर पड़ा। तन्त्र एवं भक्ति–मार्ग के संयुक्त प्रभाव से जिन–मन्दिरों में पूजा–यज्ञ आदि के रूप में विविध प्रकार के कर्मकाण्ड अस्तित्व में आये। वीतराग जिन–प्रतिमा की हिन्दू–परम्परा की षोडशोपचार–पूजा की तरह सत्रहभेदी पूजा की जाने लगी। न केवल वीतराग जिन–प्रतिमा को वस्त्राभूषणादि से सुसज्जित किया गया, अपितु उसे फल–नैवेद्य आदि भी अर्पित किये जाने लगे। यह विडम्बना ही थी कि हिन्दू देवी–देवताओं की पूजा–पद्धति के विवेकशून्य अनुकरण के द्वारा नवग्रह आदि के साथ–साथ तीर्थंकर या सिद्ध परमात्मा का भी आह्वान और विसर्जन किया जाने लगा। यद्यपि यह प्रभाव श्वेताम्बर–परम्परा में अधिक आया था, किन्तु दिगम्बर–परम्परा भी इससे बच न सकी। विविध प्रकार के कर्मकाण्ड और मन्त्र–तन्त्र का प्रवेश उनमें भी हो गया था, जिन–मन्दिर में यज्ञ होने लगे थे। श्रमण–परम्परा की वर्ण–मुक्त सर्वोदयी धर्म–व्यवस्था का परित्याग करके उसमें शूद्र की मुक्ति के निषेध और शूद्र–जल–त्याग पर बल दिया गया।

यद्यपि बारहवीं एवं तेरहवीं शती में हेमचन्द्र आदि अनेक समर्थ जैन–दार्शनिक और साहित्यकार हुए, फिर भी जैन–परम्परा में सहभागी अन्य धर्म–परम्पराओं से जो प्रभाव आ गये थे, उनसे उसे मुक्त करने का कोई सशक्त और सार्थक प्रयास हुआ हो, ऐसा ज्ञान नहीं होता। यद्यपि सुधार के कुछ प्रयत्नों एवं मतभेदों के आधार पर श्वेताम्बर–परम्परा में तपागच्छ, अंचलगच्छ आदि अस्तित्व में आये और उनकी शाखा–प्रशाखाएँ भी बनी, फिर भी लगभग 15वीं शती तक जैन–संघ इसी स्थिति का

शिकार रहा।

मध्ययुग में कला एवं साहित्य के क्षेत्र में जैनों का अवदान

यद्यपि मध्यकाल जैनाचार की दृष्टि से शिथिलाचार एवं सुविधावाद का युग था, फिर भी कला और साहित्य के क्षेत्र में जैनों ने महनीय अवदान प्रदान किया। खजुराहो, श्रवणबेलगोल, आबू (देलवाड़ा), तारंगा, रणकपुर, देवगढ़ आदि का भव्य शिल्प और स्थापत्य–कला, जो 9वीं शती से 14 वीं शती के बीच में निर्मित हुई, आज भी जैन–समाज का मस्तक गौरव से ऊँचा कर देती है। अनेक प्रौढ़ दार्शनिक एवं साहित्यिक–ग्रन्थों की रचनाएँ भी इन्हीं शताब्दियों में हुई। श्वेताम्बर–परम्परा में हरिभद्र, अभयदेव, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र, मणिभद्र, मल्लिसेन, जिनप्रभ आदि आचार्य एवं दिगम्बर–परम्परा में विद्यानन्दी शाकाटायन, प्रभाचन्द्र जैसे समर्थ विचारक भी इसी काल के हैं। मन्त्र–तन्त्र के साथ चिकित्सा के क्षेत्र में भी जैन–आचार्य आगे आये। इस युग के भट्टारकों और जैन–यतियों ने साहित्य एवं कलात्मक मन्दिरों का निर्माण तो किया ही, साथ ही चिकित्सा के माध्यम से जनसेवा के क्षेत्र में भी वे पीछे नहीं रहे।

लोकाशाह के पूर्व की धर्मक्रान्तियाँ

भारतीय–श्रमण–परम्परा एक क्रान्तिधर्मी परम्परा रही है। उसने सदैव ही स्थापित रुढ़ि और अन्धविश्वासों के प्रति क्रान्ति का स्वर मुखर किया है। इसके अनुसार, वे परम्परागत धार्मिक–रूढ़ियाँ, जिनके पीछे कोई सार्थक प्रयोजन निहित नहीं है, धर्म के शव के समान है। शव पूजा या प्रतिष्ठा का विषय नहीं होता, बल्कि विसर्जन का विषय होता है, अतः अन्ध और रुढ़िवादी परम्पराओं के प्रति क्रान्ति आवश्यक और अपरिहार्य होती है। श्रमण धर्मों अथवा जैन धर्म का प्रादुर्भाव इसी क्रान्ति–दृष्टि के परिणामस्वरूप हुआ है। भगवान् ऋषभदेव ने अपने युग के अनुरूप लौकिक और आध्यात्मिक–क्षेत्रों में अपनी व्यवस्थायें दी थी। परवर्ती, तीर्थंकरों ने अपने युग और परिस्थिति के अनुरूप उसमें भी परिवर्तन किये। परिवर्तन और संशोधन का यह क्रम महावीर के युग तक चला।

भगवान् महावीर ने भगवान् 'पार्श्वनाथ' के धर्म–मार्ग और आचार–व्यवस्था में अपने युग के अनुरूप विविध परिवर्तन किये। भगवान् महावीर ने जो आचार–व्यवस्था दी थी, उसमें भी देश, काल और व्यक्तिगत परिस्थितियों के कारण कालान्तर में परिवर्तन आवश्यक हुए। फलतः, जैनाचार्यों ने महावीर के साधना–मार्ग और आचार–व्यवस्था को उत्सर्ग मार्ग मानते हुए अपवाद मार्ग के रूप में देशकालगत परिस्थितियों के आधार पर नवीन मान्यताओं को स्थान दिया। अपवाद मार्ग की सृजना के साथ जो सुविधावाद जैन–संघ में प्रविष्ट हुआ, वह कालान्तर में आचार–शैथिल्य का प्रतीक बन गया। उस आचार–शैथिल्य के प्रति भी युग–युग में सुविहित मार्ग के समर्थक आचार्यों ने धर्मक्रान्तियाँ या क्रियोद्धार किये।

जैन धर्म एक गत्यात्मक–धर्म है। अपने मूल तत्त्वों को संरक्षित रखते हुए उसने देश, काल और परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ–साथ अपनी व्यवस्थाओं में भी परिवर्तन किया, अतः विभिन्न परम्पराओं के जैन आचार्यों के द्वारा की गई धर्मक्रान्तियाँ जैन–धर्म के लिए कोई नई बात नहीं थी, अपितु इसकी क्रान्तधर्मी विचार–दृष्टि का ही परिणाम था। लोकाशाह के पूर्व भी धर्मक्रान्तियॉ हुई थी। उन धर्मक्रान्तियों या क्रियोद्धार की घटनाओं का हम संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं–

जैसा कि पूर्व में संकेत किया गया है कि भगवान् महावीर ने भी भगवान् पार्श्वनाथ की आचार–व्यवस्था को यथावत् रूप में स्वीकार नहीं किया था। यह ठीक है कि भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर के मूलभूत सिद्धान्तों में मौलिक अन्तर न हो, किन्तु उनकी आचार–व्यवस्थायें तो भिन्न–भिन्न रही ही हैं, जिनका जैनागमों में अनेक स्थानों पर निर्देश प्राप्त होता है। महावीर की परम्परा में इन दोनों महापुरुषों की आचार–व्यवस्थाओं का समन्वय प्रथमतः सामायिक–चारित्र और छेदोपस्थापनीय–चारित्र (पड्चमहाव्रतारोपण) के रूप में हुआ, फलतः, मुनि–आचार में एक द्विस्तरीय व्यवस्था की गई। भगवान् महावीर के द्वारा स्थापित यह आचार–व्यवस्था बिना किसी मौलिक परिवर्तन के भद्रबाहु के युग तक चलती रही, किन्तु उसमें भी देशकालगत परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ आंशिक–परिवर्तन तो अवश्य ही आये। उन परिस्थितिजन्य

परिवर्तनों को मान्यता प्रदान करने हेतु आचार्य भद्रबाहु को जिनकल्प और स्थविरकल्प तथा उत्सर्ग–मार्ग और अपवाद–मार्ग के रूप में पुनः एक द्वि–स्तरीय आचार–व्यवस्था को स्वीकृति देनी पड़ी। आचार्य भद्रबाहु के प्रशिष्य और स्थूलिभद्र के शिष्य आर्य महागिरि एवं आर्य सुहस्ती के काल में जैन–धर्म में जिनकल्प और स्थाविरकल्प–ऐसी दो व्यवस्थायें स्वीकृत हो चुकी थी। वस्तुतः, यह द्विस्तरीय आचार–व्यवस्था इसलिए भी आवश्यक हो गई थी कि जिनकल्प का पालन करते हुए आत्म–साधना तो सम्भव थी, किन्तु संघीय व्यवस्थाओं से और विशेष रूप से समाज से जुड़कर जैन–धर्म के प्रसार और प्रचार का कार्य जिनकल्प जैसी कठोर आचारचर्या द्वारा सम्भव नहीं था, अतः मुनिजन अपनी सुविधा के अनुरूप स्थविरकल्प और जिनकल्प में से किसी एक का पालन करते थे, फिर भी इस द्विस्तरीय आचार–व्यवस्था के परिणामस्वरूप संघ में वैमनस्य की स्थिति का निर्माण नहीं हो पाया था। आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ति के काल तक संघ में द्विस्तरीय आचार–व्यवस्था होते हुए भी सौहार्द बना रहा, किन्तु कालान्तर में यह स्थिति सम्भव नहीं रह पाई। जहॉ जिनकल्पी अपनी कठोर आचार व्यवस्था के कारण श्रद्धा के केन्द्र थे, वहीं दूसरी ओर, स्थाविरकल्पी संघ या समाज से जुड़े होने के कारण उस पर अपना वर्चस्व रख रहे थे। आगे चलकर, वर्चस्व की इस होड़ में जैन धर्म भी दो वर्णों में विभाजित हो गया, जो **श्वेताम्बर** और **दिगम्बर** नाम से कालान्तर में प्रसिद्ध हुए।

भगवान महावीर द्वारा आचारांग में देश श्रामण्य और सर्व श्रामण्य के रूप में एवं आचार्य भद्रबाहु के द्वारा रचित **'निशीथ'**, **'दशाश्रुतस्कन्ध'**, **'बृहत्कल्प'** एवं **'व्यवहारसूत्र'** में उत्सर्ग और अपवाद के रूप में अथवा जिनकल्प और स्थविकल्प के रूप में इस द्विस्तरीय आचार–व्यवस्था को स्पष्ट रूप से मान्यता प्रदान की गई है। जहाँ मूल आगम ग्रन्थों में अपवाद के क्वचित् ही निर्देश उपलब्ध होते हैं, वहॉ इन छेदग्रन्थों में हमें अपवाद–मार्ग की विस्तृत व्याख्या भी प्राप्त होती है। आगे चलकर, आर्यभद्र द्वारा रचित निर्युक्तियों में जिनभद्रगणि द्वारा रचित 'विशेषावश्यक' आदि भाष्यों में और जिनदासमहत्तर–रचित चूर्णियों में इस अपवाद–मार्ग का खुला

समर्थन देखा जाता है।

यह सत्य है कि कोई भी आचार–व्यवस्था या साधना–पद्धति अपवाद मार्ग को पूरी तरह अस्वीकृत करके नहीं चलती। देश, कालगत परिस्थितियां कुछ ऐसी होती हैं, जिसमें अपवाद को मान्यता देनी पड़ती है, किन्तु आगे चलकर अपवाद–मार्ग की यह व्यवस्था सुविधावाद और आचार–शैथिल्यता का कारण बनती है, जो सुविधा–मार्ग से होती हुई आचार–शैथिल्यता की पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है। जैन–संघ में ऐसी परिस्थितियाँ अनेक बार उत्पन्न हुईं और उसके लिए समय–समय पर जैनाचार्यों को धर्मक्रान्ति या क्रियोद्धार करना पड़ा।

आचार–व्यवस्था को लेकर विशेष रूप से सचेल और अचेल–साधना के सन्दर्भ में प्रथम विवाद वी.नि.सं. 606 या 609 तदनुसार विक्रम की प्रथम–द्वितीय शताब्दी में हुआ। यह विवाद मुख्यतः आर्य शिवभूति और आर्य कृष्ण के मध्य हुआ था। जहाँ आर्य शिवभूति ने अचेल–पक्ष को प्रमुखता दी, वहीं आर्य कृष्ण सचेल पक्ष के समर्थक रहे। आर्य शिवभूति की आचार–क्रान्ति के परिणामस्वरूप उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ–संघ में बोटिक या यापनीय–परम्परा का विकास हुआ, जिसने आगमों और स्त्रीमुक्ति को स्वीकार करते हुए भी यह माना कि साधना का उत्कृष्ट मार्ग तो अचेल–धर्म ही है।

लोगों के भावनात्मक और आस्थापरक–पक्ष को लेकर महावीर के पश्चात् कालान्तर में जैन–धर्म में मूर्त्तिपूजा का विकास हुआ। यद्यपि महावीर के निर्वाण के 150 वर्ष के पश्चात् से ही जैन धर्म में मूर्तिपूजा के प्रमाण मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। लोहानीपुर पटना से मिली जिन–प्रतिमाएँ और कंकाली टीला मथुरा से मिली जिन–प्रतिमाएं इस तथ्य के प्रबल प्रमाण हैं कि ईसा पूर्व ही जैनों में मूर्त्तिपूजा की परम्परा अस्तित्व में आ गई थी। यहाँ हम मूर्त्तिपूजा सम्बन्धी पक्ष–विपक्ष की इस चर्चा में न पड़कर तटस्थ–दृष्टि से यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि कालक्रम से जैन–धर्म की मूर्त्ति पूजा में अन्य परम्पराओं के प्रभाव से कैसे–कैसे परिवर्तन हुए और उसका मुनि–वर्ग के जीवन पर क्या और कैसा प्रभाव पड़ा? मन्दिर और मूर्त्तियों के निर्माण के साथ ही जैन–साधुओं की आचार–शैथिल्य को तेजी

से बढ़ावा मिला तथा श्वेताम्बर और दिगम्बर– दोनों ही परम्पराओं में मठ या चैत्यवासी और वनवासी–ऐसी दो परम्पराओं का विकास हुआ। मन्दिर और मूर्त्ति के निर्माण तथा उसकी व्यवस्था हेतु भूमिदान आदि भी प्राप्त होने लगे और उनके स्वामित्व का प्रश्न भी खड़ा होने लगा। प्रारम्भ में जो दान–सम्बन्धी अभिलेख या ताम्रपत्र मिलते हैं, उनमें दान मन्दिर, प्रतिमा या संघ को दिया जाता था– ऐसे उल्लेख हैं, लेकिन कालान्तर में आचार्यों के नाम पर दानपत्र लिखे जाने लगे, परिणामस्वरूप मुनिगण न केवल चैत्यवासी बन बैठे, अपितु वे मठ, मन्दिर आदि की व्यवस्था से जुड़ गये। सम्भवतः यही कारण रहा है कि दान आदि उनके नाम से प्राप्त होने लगे। इस प्रकार, मुनि–जीवन में सुविधावाद और आचार–शैथिल्य का विकास हुआ। आचार–शैथिल्य ने श्वेतामबर और दिगम्बर दोनों की परम्पराओं में अपना आधिपत्य कर लिया। श्वेताम्बर में यह चैत्यवासी यति–परम्परा के रूप में और दिगम्बर में षठवासी भट्टारक परम्परा के रूप में विकसित हुई, यद्यपि इस परम्परा ने जैन धर्म एवं संस्कृति को बचाये रखने में तथा जैन–विद्या के संरक्षण और समाज सेवा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। चिकित्सा के क्षेत्र में भी जैन–यतियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, किन्तु दूसरी ओर सुविधाओं के उपयोग, परिग्रह के संचयन ने उन्हें अपने श्रमण–जीवन से च्युत भी कर दिया। इस परम्परा के विरोध में दिगम्बर–आचार्य कुन्दकुन्द ने लगभग 6ठीं शती में और श्वेताम्बर–आचार्य हरिभद्र ने 8वीं शती में क्रान्ति के स्वर मुखर लिये। आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा जो क्रान्ति की गई, वह मुख्य रूप से परम्परागत धर्म के स्थान पर आध्यात्मिक–धर्म के सन्दर्भ में थी। यद्यपि उन्होंने 'अष्टपाहुड' में विशेष रूप से 'चारित्रपाहुड', 'लिंगपाहुड' आदि में आचार–शैथिल्य के सन्दर्भ में भी अपने स्वर मुखरित किये थे, किन्तु ये स्वर अनसुने ही रहे, क्योंकि परवर्ती काल में भी यह भट्टारक–परम्परा पुष्ट ही होती रही। आचार्य कुन्दकुन्द के पश्चात् उनके ग्रन्थों के प्रथम टीकाकार आचार्य अमृतचन्द ने जैन–संघ को एक आध्यात्मिक–दृष्टि देने का प्रयत्न किया जिसका समाज पर कुछ प्रभाव पड़ा, किन्तु भट्टारक–परम्परा की यथावत रूप में महिमा मण्डित होती रही । इसी प्रकार, श्वेताम्बर–परम्परा में भी सुविहितमार्ग, संविग्नपक्ष

आदि के रूप में यदि परम्परा के विरोध में स्वर मुखरित हुए और खरतरगच्छ, तपागच्छ आदि अस्तित्व में भी आये, किन्तु ये सभी यति परम्परा के प्रभाव से अपने को अलिप्त नहीं रख सके।

श्वेताम्बर–परम्परा में 8वीं शती से चैतन्यवास का विरोध प्रारम्भ हुआ था। आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ 'सम्बोधप्रकरण' के द्वितीय अध्याय में इन चैत्यवासी यतियों के क्रियाकलापों एवं आचार शैथिल्य पर तीखे व्यंग्य किये और उनके विरूद्ध क्रान्ति का शंखनाद किया, किन्तु युगीन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हरिभद्र की क्रान्ति के ये स्वर भी अनसुने ही रहे। यति–वर्ग सुविधावाद, परिग्रह–संचय आदि की प्रवृत्तियों में यथावत् जुड़ा रहा। हमें ऐसा कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि आचार्य हरिभद्र की इस क्रान्तिधर्मिता के परिणामस्वरूप चैत्यवासी यतियों पर कोई व्यापक प्रभाव पड़ा हो। श्वेताम्बर–परम्परा में चैत्यवास का प्रबल विरोध चन्द्रकुल के आचार्य वर्द्धमान सुरि ने किया। उन्होंने चैत्यवास के विरुद्ध सर्वप्रथम सुविहित–मुनि–परम्परा की पुनः स्थापना की। यह परम्परा आगे चलकर खरतरगच्छ के नाम से विख्यात हुई। इ का काल लगभग 11वीं शताब्दी माना जाता है। यद्यपि सुविहित मार्ग की स्थापना से आगम पर आधारित मुनि–आचार–व्यवस्था को नया जीवन तो प्राप्त हुआ, कि तु पूर्व परम्परा नामशेष नहीं हो पाई। अनेक स्थलों पर श्वेताम्ब –यतियों का इतना प्रभाव था कि उनके अपने क्षेत्रों में किसी अन्य सुविहित–म नि का प्रवेश भी सम्भव नहीं हो पाता था। चैत्यवासी यति–परम्परा तो नामश ष नहीं हो पाई, अपितु हुआ यह कि उस यति–परम्परा के प्रभाव से संविग्न–मुनि–परम्परा पुनः–पुनः आक्रान्त होती रही और समय–समय पर पुनः क्रियोद्धार की आवश्यकता बनी रही। इस प्रकार, हम देखते हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में प्रत्येक सौ–डेढ़ सौ वर्ष के पश्चात् पुनः–पुनः आचार–शैथिल्य के विरुद्ध और संविग्न–मार्ग की स्थापना के निमित्त धर्म क्रान्तियाँ होती रही। खरतरगच्छ की धर्मक्रान्ति के पश्चात अंचलगच्छ एवं तपागच्छ के आचार्यों द्वारा पुनः क्रियोद्धार किया गया और आगम–अनुकूल मुनि–आचार की स्थापना के प्रयत्न वि.सं. 1969 में आचार्य आर्यरक्षित (अंचलगच्छ) तथा वि.सं. 1285 में आचार्य जगच्चन्द्र (तपागच्छ) के द्वारा

किया गया।

इसी तरह, एक अन्य प्रयत्न वि.सं. 1214 या 1250 में आगमिकगच्छ एवं तपागच्छ की स्थापना के रूप में हुआ। आगमिकगच्छ ने न केवल चैत्यवास एवं यक्ष–यक्षी की पूजा का विरोध किया, अपितु सचित् द्रव्यों से जिन–प्रतिमा की पूजा का भी विरोध किया। यहाँ हम देखते हैं कि दिगम्बर–परम्परा में जहाँ बनारसीदास आदि के प्रभाव से लगभग 16वीं शती में सचित–द्रव्य से पूजन का विरोध हुआ, वहीं श्वेताम्बर–परम्परा में दो शती पूर्व ही इस प्रकार का विरोध जन्म ले चुका था। यद्यपि आगमिकगच्छ अधिक जीवंत नहीं रह पाया और कालक्रम से उसका अन्त भी हो गया, फिर भी खरतरगच्छ, तपागच्छ और अंचलगच्छ अपने प्रभाव के कारण अस्तित्व में बने रहे, किन्तु ये तीनों परम्परायें भी चैत्यवासी–यतिवासी–परम्परा से अप्रभावित नहीं रह सकीं। जिस संविग्न–मुनि–परम्परा को पुनजीर्वित करने के लिए जो ये परम्परायें अस्तित्व में आई थीं, वे अपने उस कार्य में सफल नहीं हो सकीं। खरतरगच्छ, अंचलगच्छ और यहाँ तक कि तपागच्छ में भी यतियों का वर्चस्व स्थापित हो गया। मात्र यही नहीं, मन्दिर और मूर्त्ति–सम्बन्धी आडम्बर बढ़ता ही गया और श्रमण–वर्ग, जिसका लक्ष्य आत्म–साधना था, वह इन कर्मकाण्डों का पुरोहित होकर रह गया। तप और त्याग के द्वारा आत्मविशुद्धि का मार्ग मात्र आगमों में ही सीमित रह गया। यथार्थ जीवन से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रह पाया। ऐसी स्थिति में पुनः एक समय क्रान्ति की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी।

चैत्यवास का विरोध और संविग्न–सम्प्रदायों का आविर्भाव

जैन–परम्परा में परिवर्तन की लहर पुनः सोलहवीं शताब्दी में आई। जब अध्यात्मप्रधान जैन–धर्म का शुद्ध स्वरूप कर्मकाण्ड के घोर आडम्बर के आवरण में धूमिल हो रहा था और मुस्लिम शासकों के मूर्त्तिभंजक स्वरूप से मूर्त्तिपूजा के प्रति आस्थाएँ विचलित हो रही थीं, तभी मुसलमानों की आडम्बर–रहित सहज धर्म–साधना ने हिन्दुओं की भाँति जैनों को भी प्रभावित किया। हिन्दू–धर्म में अनेक निर्गुण–भक्तिमार्गी सन्तों के आविर्भाव

के समान ही जैनधर्म में भी ऐसे सन्तों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने धर्म के नाम पर कर्मकाण्ड और आडम्बरयुक्त पूजा–पद्धति का विरोध किया। फलतः, जैनधर्म की श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही शाखाओं में सुधारवादी आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें श्वेताम्बर परम्परा में **लोकाशाह** और दिगम्बर–परम्परा में सन्त **तारणस्वामी** तथा प्रमुख थे। यद्यपि **बनारसीदास** जन्मना श्वेताम्बर परम्परा के थे, किन्तु उनका सुधारवादी आन्दोलन दिगम्बर परम्परा से सम्बन्धित था। **लोकाशाह** ने श्वेताम्बर–परम्परा में मूर्त्तिपूजा तथा धार्मिक–कर्मकाण्ड और आडम्बरों का विरोध किया। इनकी परम्परा आगे चलकर **लोकागच्छ** के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी से आगे चलकर सत्रहवीं शताब्दी में श्वेताम्बर–**स्थानकवासी–परम्परा** विकसित हुई, जिसका पुनः एक विभाजन 18वीं शती में शुद्ध निवृत्तिमार्गी–जीवनदृष्टि एवं अहिंसा की निषेधात्मक–व्याख्या के आधार पर **श्वेताम्बर–तेरापंथ** के रूप में हुआ।

दिगम्बर परम्परा में बनारसीदास ने भट्टारक–परम्परा के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की और सचित द्रव्यों से जिन–प्रतिमा के पूजन का निषेध किया, किन्तु तारणस्वामी तो बनारसीदास से भी एक कदम आगे थे। उन्होंने दिगम्बर परम्परा में मूर्त्तिपूजा का निषेध कर दिया। मात्र यही नहीं, उन्होंने धर्म के आध्यात्मिक–स्वरूप की पुनः प्रतिष्ठा की। बनारसीदास की परम्परा जहाँ **दिगम्बर–तेरापंथ** के नाम से विकसित हुई, वही तारणस्वामी का वह आन्दोलन **तारणपंथ या समैया** के नाम से पहचाना जाने लगा। तारणतंथ के चैत्यालयों में मूर्त्ति के स्थापन पर शास्त्र की प्रतिष्ठा की गई। इस प्रकार, सोलहवीं शताब्दी में जैन परम्परा में इस्लाम धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप एक नया परिवर्तन आया और अमूर्त्तिपूजक–सम्प्रदायों का जन्म हुआ, फिर भी पुरानी परम्पराएँ यथावत् चलती रही।

एक ओर अध्यात्म–साधना, जो श्रमण–संस्कृति की प्राण थी, वह तत्कालीन यतियों के जीवन में कहीं भी दिखाई नहीं पड़ रही थी। धर्म कर्मकाण्ड से इतना बोझिल बन गया था कि उसकी अन्तरात्मा दब–सी गई थी। धर्म का सहज, स्वाभाविक स्वरूप विलुप्त हो रहा था और उसके स्थान पर धार्मिक–कर्मकाण्डों के रूप में धर्म पर सम्पत्तिशाली लोगों का

वर्चस्व बढ़ रहा था। धर्म के नाम पर केवल ऐहिक हितों की सिद्धि के ही प्रयत्न हो रहे थे। दूसरी ओर इस्लाम के देश में सुस्थापित होने के परिणामस्वरूप एक आडम्बर विहीन सरल और सहज धर्म का परिचय जनसाधारण को प्राप्त हुआ। तीसरी ओर मन्दिर और मूर्ति जिस पर उस समय का धर्म अधिष्ठित था, मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा ध्वस्त किये जा रहे थे। ऐसी स्थिति में जनसाधारण को एक अध्यात्मपूर्ण, तप ओर त्यागमय, सरल, स्वाभाविक, आडम्बर और कर्मकाण्ड विहीन धर्म की अपेक्षा थी, जो मुस्लिम–आक्रान्ताओं के द्वारा ध्वस्त उसके श्रद्धा–केन्द्रों से उद्वेलित उसकी आत्मा को सम्यक आधार दे सके।

अमूर्तिपूजक परम्पराओं का उद्‌भ

विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी पूर्ण होते–होते इस देश पर मुस्लिम–आक्रमण प्रारम्भ हो चुका था। उस समय मुस्लिम–आक्रान्ताओं का लक्ष्य मात्र भारत से धन–सम्पदा को लूटकर ले जाना था, किन्तु धीरे–धीरे भारत की सम्पदा और उसकी उर्वर भूमि उनके आकर्षण का केन्द्र बनी और उन्होंने अपनी सत्ता को यहाँ स्थापित करने का प्रयत्न किया। सत्ता की स्थापना के साथ ही इस्लाम ने भी इस देश की मिट्‌टी पर अपने पैर जमाने प्रारम्भ कर दिये थे, यद्यपि मुस्लिम–शासक भी एक–दूसरे को उखाड़ने में लगे हुए थे। एक ओर, हुमायूँ और शेरशाह सूरि का संघर्ष चल रहा था, तो दूसरी ओर, दिल्ली में मुस्लिम–शासकों के वर्चस्व के कारण इस्लाम अपने पैर इस धरती पर जमा रहा था। मुस्लिम–शासकों का लक्ष्य भी सत्ता ओर सम्पत्ति के साथ–साथ अपने धर्म की स्थापना बन गया था, क्योंकि वे जानते थे कि उनकी सल्तनत तभी कायम रह सकती है, जब इस देश में इस्लाम की सत्ता स्थापित हो, अतः मुस्लिम–शासकों ने इस देश में इस्लाम को फैलाने और अपने पैर जमाने के लिए पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान की। इस्लाम की स्थापना और उसके पैर जमने के साथ ही उसका सम्पर्क अन्य भारतीय–परम्पराओं से हुआ। भारतीय चिन्तकों ने इस्लाम के सांस्कृतिक और धार्मिक–पक्ष पर ध्यान देना प्रारम्भ किया। फलतः, भारतीय जनमानस ने यह पाया कि इस्लाम कर्मकाण्ड से मुक्त एक सरल

और सहज उपासना–विधि है। इस पारम्परिक सम्पर्क के परिणामस्वरूप देश में सन्त परम्परा का विकास हुआ, जिसने हिन्दू–धर्म को कर्मकाण्डों से मुक्त कर एक सहज उपासना–पद्धति प्रदान की। हम देखते हैं कि 14वीं, 15वीं और 16वीं शताब्दी में इस देश में निर्गुण–उपासना–पद्धति का न केवल विकास हुआ, अपितु वह उपासना की एक प्रमुख पद्धति बन गई।

उस युग में भारतीय–जनमानस कठोर जातिवाद और वर्णवाद से तो ग्रसित था ही, साथ ही धर्म के क्षेत्र में कर्मकाण्ड का प्रभाव इतना हो गया था कि धर्म में से आध्यात्मिक–पक्ष गौण हो गया था और मात्र कर्मकाण्डों की प्रधानता रह गई थी। एक ओर, धर्म का सहज आध्यात्मिक स्वरूप विलुप्त हो रहा था, तो दूसरी ओर, धार्मिक–मतान्धता और सत्ता–बल को पाकर मुस्लिम–शासक देश भर में मन्दिरों, मूर्त्तियों को तोड़ रहे थे और मन्दिरों की सामग्री से मस्जिदों का निर्माण कर रह थे। इसका परिणाम यह हुआ कि मन्दिरों और मूर्त्तियों पर से लोगों की आस्था घटने लगी। मन्दिरों और मूर्त्तियों के विषय में जो महत्त्वपूर्ण किंवदंतियाँ प्रचलित थीं, वे ऑखों के सामने ही धूलधूसरित हो रही थी। मुस्लिम–धर्म की सहज और सरल उपासना–पद्धति भारतीय–जनमानस को आकर्षित कर रही थी। इस सबके परिणामस्वरूप भारतीय धर्मों में मूर्त्तिपूजा और कर्मकाण्ड के प्रति एक विद्रोह की भावना जाग्रत हो रही थी। अनेक सन्त, यथा– कबीर, दादू, नानक, रैदास आदि हिन्दू–धर्म में क्रान्ति का शंखनाद कर रहे थे। धर्म के नाम पर प्रचलित कर्मकाण्ड के प्रति लोगों के मन में समर्थन का भाव कम हो रहा था। यही कारण है कि इस काल में भारतीय–संस्कृति में अनेक ऐसे महापुरुषों ने जन्म लिया, जिन्होंने धर्म को कर्मकाण्ड से मुक्त कराकर लोगों को एक सरल, सहज और आडम्बरविहीन साधना–पद्धति दी।

जैन–धर्म भी इस प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। गुप्तकाल में जैन–धर्म में चैत्यवास के प्रारम्भ के साथ–साथ कर्मकाण्ड की प्रमुखता बढ़ती गई थी। कर्मकाण्डों के शिकंजे में धर्म की मूल आत्मा मरँ चुकी थी। धर्म पंडों और पुरोहितों द्वारा शोषण का माध्यम बन गया था। सामान्य जनमानस खर्चीले, आडम्बरपूर्ण आध्यात्मिकता से शून्य कर्मकाण्ड को

अस्वीकार कर रहा था। ऐसी स्थिति में जैन–धर्म के दोनों ही प्रमुख सम्प्रदायों में तीन विशिष्ट पुरुषों ने जन्म लिया। श्वेताम्बर–परम्परा में लोकाशाह और दिगम्बर–परम्परा में बनारसीदास तथा तारणस्वामी।

एक ओर, मन्दिर और मूर्त्तियों को तोड़ा जाना और देश पर मुस्लिम–शासकों का प्रभाव बढ़ना, दूसरी ओर, कर्मकाण्ड से मुक्त सहज और सरल इस्लाम–धर्म से हिन्दू और जैन मानस का प्रभावित होना, जैन–धर्म में इन अमूर्त्तिपूजक धर्म–सम्प्रदायों की उत्पत्ति का किसी सीमा तक कारण माना जा सकता है। लोकाशाह का जन्म वि.सं. 1475 के आसपास हुआ। यद्यपि उस काल तक मुस्लिमों का साम्राज्य तो स्थापित नहीं हो सका था, किन्तु देश के अनेक भागों में धीरे–धीरे मुस्लिम शासकों ने अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया था। गुजरात भी इससे अछूता नहीं था। इस युग की दूसरी विशेषता यह थी कि अब तक इस देश में स्थापित मुस्लिम शासक साम्राज्य का स्वप्न देखने लगे थे, किन्तु उसके लिए आवश्यक था भारत की हिन्दू–प्रजा को अपने विश्वास में लेना, अतः मोहम्मद तुगलक, बाबर, हुमायूँ आदि ने इस्लाम के प्रचार और प्रसार को अपना लक्ष्य रखकर भी हिन्दुओं को प्रशासन में स्थान देना प्रारम्भ किया, फलतः हिन्दू सामन्त और राज्य कर्मचारी राजा के सम्पर्क में आये। फलतः, कर्मकाण्डमुक्त जाति–पाति के भेद से रहित और भातृ–भाव से पूरित इस्लाम का अच्छा पक्ष भी उनके सामने आया, जिसने यह चिन्तन करने पर बाध्य कर दिया कि यदि हिन्दू धर्म या जैन–धर्म को बचाये रखना है, तो उसको कर्मकाण्ड से मुक्त करना आवश्यक है। इसी के परिणामस्वरूप, जैन परम्परा में अमूर्तिपूजक सम्प्रदायों का न केवल उद्भव हुआ, अपितु अनुकूल अवसर को पाकर वह तेजी से विकसित भी हुई। श्वेताम्बर–सम्प्रदाय में स्थानकवासी परम्परा का और दिगम्बर सम्प्रदाय में तारणपंथ के उदय के नेपथ्य में इस्लाम की कर्मकाण्ड मुक्त उपासना–पद्धति का प्रभाव दिखता है, यद्यपि जैन–धर्म की पृष्ठभूमि भी कर्मकाण्डमुक्त ही रही है, अतः यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता है कि इन दो सम्प्रदायों की उत्पत्ति की पीछे मात्र इस्लाम का ही पूर्ण प्रभाव था।

परम्परा के अनुसार यह मान्यता है कि लोकाशाह को मुस्लिम–शासन

ने न केवल अपने खजांची के रूप में मान्यता दी थी, अपितु उनके धार्मिक–आन्दोलन को एक मूक स्वीकृति तो प्रदान की थी। लोकाशाह का काल मोहम्मद तुगलक की समाप्ति के बाद शेरशाह सूरि और बाबर का सत्ताकाल था। मुस्लिम–बादशाह से अपनी आजीविका पाने के साथ–साथ हिन्दू–अधिकारी मुस्लिम–धर्म और संस्कृति से प्रभावित हो रहे थे। ऐसा लगता है कि अहमदाबाद के मुस्लिम–शासक के साथ काम करते हुए उनके धर्म की अच्छाइयों का प्रभाव भी लोकाशाह पर पड़ा। दूसरी ओर, उस युग में हिन्दू–धर्म के समान जैन–धर्म भी मुख्यतः कर्मकाण्डी हो गया था। धीरे–धीरे उसमें से धर्म का आध्यात्मिक–पक्ष विलुप्त होता जा रहा था। चैत्यवासी यति कर्मकाण्ड के नाम पर अपनी आजीविका को संबल बनाने के लिए जनमानस का शोषण कर रहे थे। अपनी अक्षरों की सुन्दरता के कारण लोकाशाह को जब प्रतिलिपि करते समय आगम–ग्रन्थों के अध्ययन का मौका मिला, तो उन्होंने देखा कि आज जैन–मुनियों के आचार में भी सिद्धान्त और व्यवहार में बहुत बड़ी खाई आ गई है। साधकों के जीवन में आई सिद्धान्त और व्यवहार की यह खाई जन सामान्य की चेतना में अनेक प्रश्न खड़े कर रही थी। लोकाशाह के लिए यह एक अच्छा मौका था कि वे कर्मकाण्ड से मुक्त और आध्यात्मिक–साधना से युक्त किसी धर्म–परम्परा का विकास कर सकें।

लोकाशाह के पूर्व जैन–संघ की क्या स्थिति थी? इस सम्बन्ध में थोड़ा विचार पूर्व में कर चुके हैं। लोकाशाह के पूर्व 14वीं, 15वीं शती में जैन–संघ मुख्य रूप से तीन सम्प्रदायों में विभक्त था– श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय। इसमें भी लगभग 5वीं शती में अस्तित्व में आई यापनीय–परम्परा अब विलुप्ति के कगार पर थी। एक–दो भट्टारक–गद्दियों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से उसका कोई अस्तित्व नहीं रह गया, अतः मूलतः श्वेताम्बर और दिगम्बर–ये दो परम्परायें ही अस्तित्व में थीं। जहाँ तक दिगम्बर–परम्परा का प्रश्न है, तो उस काल में मुनि और आर्या–संघ का कोई अस्तित्व नहीं रह गया था। मात्र भट्टारकों की ही प्रमुखता थी, किन्तु भट्टारक त्यागी–वर्ग के प्रतिनिधि होकर भी मुख्यतः मठवासी बने बैठे थे। मठ की सम्पत्ति की वृद्धि और उसका संरक्षण उनका प्रमुख कार्य रह गया था।

उत्तर–भारत और दक्षिण–भारत–दोनों में ही स्थान–स्थान पर भट्टारकों की गद्दियाँ थी और धीरे–धीरे सामन्तों की तरह ये भी अपने क्षेत्रों और अनुयायियों पर अपना शासन चला रहे थे। भट्टारकों में भी अनेक संघ यथा– काष्ठा, माथुर, मूल, लाड़वागढ़, द्रविड़ आदि थे, जो कि कुछ गण या गच्छों में विभाजित थे। जहाँ तक श्वेताम्बर–परम्परा का प्रश्न है, उसमें संविग्न और सुविहित–मुनियों का पूर्ण अभाव तो नहीं हुआ था, फिर भी चैत्यवासी यतियों की ही प्रमुखता थी। समाज पर वर्चस्व यति–वर्ग का ही था और उनकी स्थिति भी मठवासी भट्टारकों के समान ही थी। धार्मिक क्रियाकाण्डों के साथ यति–वर्ग मन्त्र–तन्त्र और चिकित्सा आदि से जुड़ा हुआ था। यह मात्र कहने की दृष्टि से ही त्यागी–वर्ग कहा जाता है। वस्तुतः, आचार की अपेक्षा से उनके पास उस युग के अनुरूप भोग की सारी सुविधायें उपलब्ध होती थीं। यति–वर्ग इतना प्रभावशाली था कि अपने प्रभाव से संविग्न एवं सुविहित–मुनियों को अपने वर्चस्व–क्षेत्र से प्रवेश करने में भी रोक देते थे।

इस्लाम के प्रभाव के साथ–साथ भट्टारकों एवं यतियों के आचार–शैथिल्य एवं धर्माचरण के क्षेत्र में कर्मकाण्डों का वर्चस्व ऐसी स्थितियाँ थीं कि जिसने लोकाशाह को धर्मक्रान्ति हेतु प्रेरणा दी। लोकाशाह ने मूर्त्तिपूजा, कर्मकाण्ड और आचार–शैथिल्य का विरोध कर जैन–धर्म को एक नवीन दिशा दी। उनकी इस साहसपूर्ण धर्मक्रान्ति का प्रभाव यह हुआ कि प्रायः सम्पूर्ण उत्तर–पश्चिम भारत में लाखों की संख्या में उनके अनुयायी बन गये। कालान्तर में उनके अनुयायियों का यह वर्ग गुजराती लोकागच्छ, नागौरी लोकागच्छ और लाहोरी–लोकागच्छ के रूप में तीन भागों में विभाजित हो गया, किन्तु श्वेताम्बर–मूर्त्तिपूजक यति–परम्परा के प्रभाव से शनैः–शनैः आचार–शैथिल्य की ओर बढ़ते हुए इसने पुनः यति परम्परा का रूप ले लिया, फलतः लोकाशाह की धर्मक्रान्ति के लगभग 150 वर्ष पश्चात् पुनः एक नवीन धर्मक्रान्ति की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इसी लोकागच्छ यति–परम्परा में से निकलकर **जीवराजजी, लवजीऋषिजी, धर्मसिंहजी, धर्मदासजी, मनोहरदासजी, हरजीस्वामीजी** आदि ने पुनः एक धर्मक्रान्ति का उद्घोष किया और

आगमसम्मत मुनि–आचार पर विशेष बल दिया, फलतः **स्थानकवासी**–सम्प्रदाय का उदय हुआ। स्थानकवासी–परम्परा का उद्भव एवं विकास किसी एक व्यक्ति से एक ही काल में नहीं हुआ, अपितु विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अलग–अलग समय में हुआ, अतः विचार और आचार के क्षेत्र में मतभेद बने रहे, जिसका परिणाम यह हुआ कि यह सम्प्रदाय अपने उदय–काल में ही अनेक उपसम्प्रदायों में विभाजित रहा।

17 वीं शताब्दी में इसी स्थानकवासी सम्प्रदाय से निकलकर रघुनाथजी के शिष्य **भीखणडजी स्वामी** ने **श्वेताम्बर–तेरापंथ** की स्थापना की। इनके स्थानकवासी–परम्परा से पृथक् होने के मूलतः दो कारण रहे– एक ओर, स्थानकवासी–परम्परा के साधुओं ने भी यति–परम्परा के समान ही अपनी–अपनी परम्परा के स्थानकों को निर्माण करवाकर उनमें निवास करना प्रारम्भ कर दिया, तो दूसरी ओर, भीखणजी स्वामी का आग्रह यह रहा कि दया व दान की ये सभी प्रवृत्तियाँ, जो सावद्य हैं और जिनके साथ किसी भी रूप में हिंसा जुड़ी हुई है, चाहे वह हिंसा एकेन्द्रिय–जीवों की हो, धर्म नहीं मानी जा सकती। कालान्तर में, आचार्य भीखणजी का यह सम्प्रदाय पर्याप्त रूप से विकसित हुआ ओर आज जैन–धर्म के एक प्रबुद्ध सम्प्रदाय के रूप में जाना–पहचाना जाता है। इसे तेरापंथ के नौवें **आचार्य तुलसीजी और दसवें आचार्य महाप्रज्ञजी** ने नई ऊँचाइयाँ दी हैं।

स्थानकवासी और तेरापंथ के उदय के पश्चात् क्रमशः बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध, मध्य और उत्तरार्द्ध में विकसित जैन–धर्म के सांस्कृतिक–इतिहास की दृष्टि से जो तीन परम्पराएँ अति महत्वपूर्ण हैं, उनमें श्रीमद् राजचन्द्र की अध्यात्मप्रधान–परम्परा में विकसित **'कविपंथ'**, स्थानकवासी–परम्परा से निकलकर बनारसीदास के दिगम्बर तेरापंथ को नवजीवन देने वाले कानजीस्वामी का निश्चयनय–प्रधान **'कानजी पंथ'** तथा गुजरात के ए. एम. पटेल के द्वारा स्थापित **दादा भगवान् सम्प्रदाय** मुख्य हैं, यद्यपि ये तीनों सम्प्रदाय मूलतः जैन–धर्म की आध्यात्मप्रधान–दृष्टि को लेकर ही विकसित हुए। श्रीमद् राजचन्द्रजी, जिन्हें महात्मा गॉधी ने गुरु का स्थान दिया था, जैन–धर्म में किसी सम्प्रदाय की स्थापना की दृष्टि से नहीं, मात्र

व्यक्ति के आध्यात्मिक–जागरण की अपेक्षा से जनसाधारण को जैन–धर्म के आध्यात्मिक–प्रधान सारभूत तत्त्वों का बोध दिया। श्रीमद् राजचन्द्र आध्यात्मिक–प्रज्ञासम्पन्न आशु–कवि थे, अतः उनका अनुयायी कविपंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कानजीस्वामी ने कुन्दकुन्द के 'समयसार' आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर बनारसीदास और श्रीमद् राजचन्द्र की अध्यात्म–प्रधान–दृष्टि को ही जन–जन में प्रसारित करने का प्रयत्न किया, किन्तु जहाँ श्रीमद् राजचन्द्र ने निश्चय और व्यवहार–दोनों पर समान बल दिया, वहाँ कानजी स्वामी का दृष्टिकोण मूलतः निश्चयप्रधान रहा। दोनों की विचारधाराओं में यही मात्र मौलिक अन्तर माना जा सकता ह , व्यक्ति की आन्तरिक–विशुद्धि और आध्यांत्मिक–विकास दोनों का ही मूल ल य है। ऐसा कहा जाता है कि श्री एम.के. पटेल को सन् 1957 में ज्ञान का प्र ाश मिला और उन्होंने भी अपने उपदेशों के माध्यम से व्यक्ति के अ न्तरिक–विकारों की विशुद्धि पर ही विशेष बल दिया, फिर भी जहॉ कानजीस्वामी ने क्रमबद्ध पर्याय की बात कही वहाँ श्री एम.के. पटेल, जो आगे चलकर ादा भगवान् के नामं से प्रसिद्ध हुए, ने अक्रम–विज्ञान की बात कही, अक्रम विज्ञान का मूल अर्थ केवल इतना ही है कि आध्यात्मिक–प्रकाश की यह ाटना कभी घटित हो सकती है। आध्यात्मिक बोध कोई यांत्रिक घटना न ीं है। वह प्राकृतिक नियमों से भी उपर है। दादा भगवान की परम्परा का वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने आध्यात्म के क्षेत्र में जैन एवं हिन्दू–परम्परा की समरूपता का अनुभव किया और इसी आधार पर जहॉ तीर्थंकर परमात्मा की आराधना को लक्ष्य बनाया वहीं वासुदेव और शिव को भी अपने आराध्य के रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार, उनकी परम्परा हिन्दू और जैन–अध्यात्म का एक मिश्रण है। 20 वीं शती में विकसित इन तीनों परम्पराओं का वैशिष्ट्य यह है कि वे विकास पर सर्वाधिक बल देती है। उनकी दृष्टि में आचार शुद्धि में पूर्व विचार–शुद्धि या दृष्टि शुद्धि आवश्यक है। इन नवीन पृथक्–भूत परम्पराओं के अतिरिक्त पूर्व–प्रचलित परम्पराओं में भी ऐतिहासिक–महत्व की अनेक घटनाएँ घटित हुई। उनमें एक महत्वपूर्ण घटना यह है कि दिगम्बर परम्परा मे जो नग्न–मुनि–परम्परा शताब्दियों से नामशेष या विलुप्त हो चुकी थी, वह आचार्य शान्तिसागरजी

से पुनजीर्वित हुई। आज देश में पर्याप्त संख्या में दिगम्बर–मुनि हैं। श्वेताम्बर–मूर्त्तिपूजक–परम्परा में इस शती में विभिन्न गच्छों और समुदायों के मध्य एकीकरण के प्रयास तो हुए, किन्तु वे अधिक सफल नहीं हो पाये। दूसरे, इस शती में चैत्यवासी यति परम्परा प्रायः क्षीण हो गई। कुछ यतियों को छोड़ यह परम्परा नामशेष हो रही है, वहीं संविग्न–मुनि–संस्था में धीरे–धीरे आचार–शैथिल्य में वृद्धि हो रही है ओर कुछ संविग्न–पक्षीय मुनि धीरे–धीरे यतियों के समरूप आचार करने लगे हैं। यह एक विचारणीय पक्ष है। स्थानकवासी समाज की दृष्टि से यह शती इसलिए महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है कि इस शती में इस विकीर्ण समाज को जोड़ने के महत्त्वपूर्ण प्रयत्न हुए। अजमेर और सादड़ी घाणेराव में दो महत्त्वपूर्ण साधु सम्मेलन हुए, जिनकी फलश्रुति के रूप में विभिन्न सम्प्रदाय एक–दूसरे के निकट आए। सादड़ी सम्मेलन में गुजरात और मारवाड़ के कुछ सम्प्रदायों को छोड़कर समस्त स्थानकवासी मुनि संघ वर्द्धमान–स्थानकवासी–श्रवण–संघ के रूप में एकजुट हुआ, किन्तु कालान्तर में कुछ सम्प्रदाय पुनः पृथक् भी हुए। इस शती में तेरापंथ –सम्प्रदाय ने जैन–धर्म–दर्शन से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन कर महत्वपूर्ण कार्य किया है। सामान्य रूप से यह शती आध्यात्मिक–चेतना की जाग्रति के साथ जैन–साहित्य के लेखन, सम्पादन, प्रकाशन और प्रसार की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण रही है, साथ ही, जैन–धर्मानुयायी के विदेश गमन से इसे एक अन्तर्राष्ट्रीय–धर्म होने का गौरव प्राप्त हुआ है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैनधर्म की सांस्कृतिक चेतना भारतीय –संस्कृति के आदिकाल से लेकर आज तक नवोन्मेष को प्राप्त होती रही है। वह एक गतिशील जीवन्त परम्परा के रूप में देश–कालगत परिस्थितियों के साथ समन्वय करते हुए, उसने अपनी गतिशीलता का परिचय दिया है।

सन्दर्भ

1. 'उत्तराध्ययन' 25/27, 21
2. 'धम्मपद' 401–403
3. 'उत्तराध्ययन' 12/44
4. 'अंगुत्तरनिकाय', 'सुत्तनिपात', 'उद्धृत्त–भगवान् बुद्ध (धर्मानन्द कौसाम्बी) पृ.– 26
5. 'भगवान् बुद्ध' (धर्मानन्द कौसाम्बी) पृ.–236–239
6. 'गीता', 4/33, 26–28
7. 'उत्तराध्ययन' 12/46
8. 'उत्तराध्ययन' 9/40, देखिये– 'गीता' (शा.) 4/26–28
9. 'धम्मपद' 106
10. 'सम्बोधप्रकरण', गुर्वाधिकार

विभाग 1 (ब)

जैनसाहित्य का संक्षिप्त इतिहास

जैन प्राकृत साहित्य

भारतीय–संस्कृति एक समन्वित संस्कृति है। अति प्राचीनकाल से ही इसमें दो धाराएँ प्रवाहित होती रही हैं– वैदिक और श्रमण, यद्यपि ये दो स्वतंत्र धाराएँ मूलतः मानव–जीवन के दो पक्षों पर आधारित रही हैं। मानव जीवन स्वयं विरोधाभासपूर्ण है? वासना (जैविक–पक्ष/शरीर) और विवेक (अध्यात्म)– ये दोनो तत्त्व उसमें प्रारम्भ से ही समन्वित हैं। परम्परागत दृष्टि से इन्हें शरीर और आत्मा भी कह सकते है। जैसे ये दोनो पक्ष हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित करते रहते हैं, वैसे ही ये दोनो संस्कृतियाँ भी एक दूसरे को प्रभावित करती रही हैं। भाषा की दृष्टि से भी ये दोनो संस्कृतियॉ दो भिन्न भाषाओं के साहित्य से पुष्ट होती रही है। जहॉ वैदिक संस्कृति में संस्कृत की प्रधानता रही है, वही श्रमण–संस्कृति में लोकभाषा या प्राकृत की प्रधानता रही है। आदिकाल से ही वैदिक–धारा की साहित्यिक–गतिविधियाँ संस्कृत–केन्द्रित रही हैं, यद्यपि उसमें संस्कृत के तीन रूप पाये जाते है–1. छान्दस्, 2. छान्दस् प्रभावित पाणिणीय–संस्कृत और 3. साहित्यिक व्याकरण–परिशुद्ध संस्कृत। छान्दस्, जो मूलतः वेदों की भाषा है। ब्राह्मणग्रंथों पर तो छान्दस् का ही अधिक प्रभाव रहा है, किन्तु आरण्यकों और उपनिषदों की भाषा छान्दस्–प्रभावित पाणिणीय–व्याकरण से परिमार्जित साहित्यिक–संस्कृत रही है। पुराण आदि परवर्ती वैदिक–परम्परा का साहित्य– व्याकरण परिशुद्ध साहित्यिक संस्कृत में ही देखा जाता है, जबकि श्रमणधारा ने प्रारम्भ से ही लोकभाषा को अपनाया। देश और काल की अपेक्षा से इसके भी अनेक रूप पाये जाते हैं, यथा– मागधी, पाली, पैशाची, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और अपभ्रंश। बौद्धों का परम्परागत त्रिपिटक–साहित्य पाली–भाषा में है, जो मूलतः मागधी और अर्द्धमागधी के निकट है, वहीं जैन–परम्परा का साहित्य मूलतः अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और अपभ्रंश में पाया जाता है। यहा

यह ज्ञातव्य है, कि जहॉ जैनधर्म की श्वेताम्बर–शाखा का साहित्य अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री–प्राकृत में है, वहीं दिगम्बर एवं यापनीय–शाखा का साहित्य, शौरसेनी–प्राकृत में पाया जाता है, यहाँ यह भी ज्ञातव्य है, कि छान्दस्, अभिलेखीयप्राकृत, पाली और प्राचीन अर्द्धमागधी एक–दूसरे से अधिक दूर भी नही हैं। वस्तुतः, सुदूर क्षेत्र की भायूरोपीय–वर्ग की सभी भाषाएं एक–दूसरे के निकट ही देखी जाती हैं, आज भी आचारांगसूत्र की प्राचीन प्राकृत में अंग्रेजी के अनेक शब्द–रूप देखे जाते हैं, जैसे–बोंदि (Body), एस (As), आउट्टे (Out), चिल्लड़ (Childern) आदि।

आज प्राकृत की प्रत्येक संगोष्ठी में यह प्रश्न भी उठाया जाता है कि प्राकृत से संस्कृत बनी या संस्कृत से प्राकृत बनी तथा इनमे कौन कितनी प्राचीन है। जैन–परम्परा में ही जहाँ 'नमिसाधु' प्राकृत से संस्कृत के निर्माण की बात कहते हैं, वहीं हेमचन्द्र 'प्रकृति संस्कृतम्' कहकर संस्कृत से प्राकृत के विकास को समझाते हैं। यद्यपि यह भ्रान्ति भाषाओं के विकास के इतिहास के अज्ञान के कारण है। सर्वप्रथम हमें बोली और भाषा के अंतर को समझ लेना होगा। प्राकृत अपने–आप में एक बोली भी रही है और भाषा भी। भाषा का निर्माण बोली को व्याकरण के नियमों में जकड़कर किया जाता है, अतः यह मानना होगा कि संस्कृत का विकास प्राकृत–बोलियों से हुआ है। प्राकृत मूल में भाषा नहीं, अनेक बोलियों के रूप रही है। इस दृष्टि से प्राकृत बोली के रूप में पहले है और संस्कृत–भाषा उसका संस्कारित रूप है। दूसरी ओर, यदि प्राकृतभाषा की दृष्टि से विचार करें, तो प्राकृत–भाषाओं का व्याकरण संस्कृत व्याकरण से प्रभावित हैं, अतः संस्कृत पहले और प्राकृत (लोकभाषाएँ) परवर्ती हैं। मूल में प्राकृत–भाषाएँ अनेक बोलियों से विकसित हुई है, अतः वे अनेक हैं। संस्कृत–भाषा व्याकरणनिष्ठ होने से परवर्ती काल में एक रूप ही रही है। जैन–ग्रंथो में भी प्राकृतों के अनेक रूप जाते हैं, यथा–मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी–महाराष्ट्री और उनसे विकसित विभिन्न अपभ्रंशें। आज जो भी प्राचीन स्तर का जैन–साहित्य है, वह सभी इन विविध प्राकृतों में लिखित है। यद्यपि जैनाचार्यों ने ईसा की तीसरी–चौथी शती से संस्कृत–भाषा को भी अपनाया और उसमें भी विपुल मात्रा में ग्रंथों की रचना की, फिर भी उनका मूल आगमसाहित्य, आगमतुल्य और अन्य विविध

विधाओं का विपुल साहित्य भी प्राकृत–भाषा में ही है।

प्राकृत–भाषा में रचित जैन–साहित्य में प्राचीनता की अपेक्षा मुख्यतः उनका आगम–साहित्य आता है। आगमों के अतिरिक्त दिगम्बर–परम्परा के अनेक आगमतुल्य ग्रंथ भी प्राकृत–भाषा में ही रचित हैं। इसके अतिरिक्त, जैन कर्मसाहित्य के विविध ग्रंथ भी प्राकृत–भाषा में ही मिलते हैं। इनके अतिरिक्त, जैन–साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा कथा–साहित्य भी प्राकृत भाषा में विपुल रूप में पाया जाता है। इनके आचार व्यवहार खगोल–भूगोल और ज्योतिष सम्बंधी कुछ ग्रंथ भी प्राकृत–भाषा में ही पाये जाते हैं। जहाँ तक जैनदर्शन सम्बंधी ग्रंथों का प्रश्न है, सन्मतितर्क (सम्मइसुत्त), नवतत्त्वपयरण, पंचास्तिकाय जैसे कुछ ही ग्रंथ प्राकृत में मिलते हैं, यद्यपि प्राकृत आगम–साहित्य में भी जैनों का दार्शनिक–चिन्तन पाया जाता है। इसी क्रम में जैनधर्म के ध्यान और योग–सम्बंधी अनेक ग्रंथ भी प्राकृत–भाषा में निबद्ध हैं। प्राकृत–साहित्य बहुआयामी है। यदि कालक्रम की दृष्टि से इस पर विचार किया जाये, तो हमें ज्ञात होता है कि जैनों का प्राकृत भाषा में निबद्ध साहित्य ई0पू0 पांचवीं शती से लेकर ईसा की 20वीं शती तक लिखा जाता रहा है। इस प्रकार, प्राकृत के जैनसाहित्य का इतिहास लगभग ढाई सहस्राब्दी का इतिहास है। अतः, यहाँ हमें इस सब पर क्रमिक–दृष्टि से विचार करना होगा।

जैन प्राकृत आगम साहित्य

प्राकृत–जैन–साहित्य के इस सर्वेक्षण में प्राचीनता की दृष्टि से हमें सर्वप्रथम जैन–आगम–साहित्य पर विचार करना होगा। हमारी दिगम्बर परम्परा आगम–साहित्य को विलुप्त मानती है। यह भी सत्य और तथ्य है कि आगम साहित्य का विपुल अंश और उसके अनेक ग्रंथ आज अनुपलब्ध हैं, किन्तु इस आधार पर यह मान लेना कि आगम–साहित्य पूर्णतः विलुप्त हो गया, उचित नहीं होगा। जैनधर्म की यापनीय एवं श्वेताम्बर–शाखाएँ आगमों का पूर्ण विलोप नहीं मानती हैं। आज भी आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित आदि ग्रंथों में प्राचीन सामग्री अंशतः ही सही, किन्तु उपलब्ध है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अनेक सूत्र और ऋषिभाषित (इसिभासियाइं) इस बात के प्रमाण हैं कि प्राकृत–जैन–साहित्य

औपनिषदिक–काल में भी जीवन्त था। यहाँ तक कि आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के अनेक सूत्र औपनिषदिक–सूत्रों से यथावत् समानता रखते हैं, वही इसिभासियाइं याज्ञवल्क्य आदि 22 औपनिषदिक–ऋषियों, अनेक बौद्धभिक्षुओं, जैसे– सारिपुत्त, वज्जीयपुत्त और महाकाश्यप, आजीवक– मंखलिगोशाल एवं अन्य विलुप्तप्राय श्रमणधाराओं के ऋषियों के उपदेशों को प्राचीनतम प्राकृत–भाषा में यथार्थ रूप से प्रस्तुत करता है। इसिभासियाइं में 45 ऋषियों के उपदेश संकलित हैं। इनमें मात्र पार्श्व और वर्द्धमान (महावीर) को छोडकर शेष सभी औपनिषदिक, बौद्ध, आजीवक आदि अन्य श्रमणधाराओं से सम्बंधित हैं। आश्चर्य यह है कि इनमें से अधिकांश को अर्हत्–ऋषि कहकर सम्बोधित किया गया है, जो जैन–चिन्तकों की उदारदृष्टि का परिचायक है। ज्ञातव्य है कि यह ग्रंथ जैनधर्म के साम्प्रदायिक घेरे में आबद्ध होने के पूर्व की स्थिति का परिचायक है। ज्ञातव्य है कि जब जैनधर्म साम्प्रदायिक घेरे में आबद्ध होने लगा, तब यह प्राचीनतम प्राकृत का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ भी उपेक्षा का शिकार हुआ, इसकी विषय–वस्तु को दसवें अंगआगम से हटाकर प्रकीर्णक के रूप में डाला गया। सद्भाग्य यही है कि यह ग्रंथ आज भी अपने वास्तविक स्वरूप में सुरक्षित है। प्राकृत और संस्कृत के विद्वानों से मेरी यही अपेक्षा है कि इस ग्रंथ के माध्यम से भारतीय–संस्कृति की उदार और उदात्त– दृष्टि को पुनर्स्थापित करने का प्रयत्न करें। ज्ञातव्य है कि अन्य जैन–आगमों में ऋषिभाषित के अनेक सन्दर्भ आज भी देखे जाते हैं।

जैन आगम साहित्य के वर्गीकरण और संख्या का प्रश्न

जैन–आगम–साहित्य का वर्गीकरण दो रूपो में पाया जाता है– अंग–प्रविष्ट और अंग–बाह्य। प्राचीन–काल से श्वेताम्बर और दिगम्बर– परम्परा में आगमों को अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य– ऐसे दो विभागों में बाटा जाता रहा है। अंगप्रविष्ट ग्रंथों की संख्या बारह मानी गयी है और इनके नामों को लेकर भी दोनों परम्पराओं में कोई मतभेद नहीं है। उन दोनो में बारह अंगों के निम्न नाम भी समान रूप से माने गये हैं– 1. आचारांग, 2. सूत्रकृतांग, 3. स्थानांग, 4 समवायांग, 5. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र),

6. ज्ञाताधर्मकथा, 7. उपासकदशा, 8. अन्तकृत्दशा, 9. अनुत्तरौपपातिकदशा, 10. प्रश्नव्याकरण, 11. विपाकसूत्र और 12. दृष्टिवाद। दोनो परम्पराएँ इस संबंध में भी एकमत हैं कि वर्त्तमान में दृष्टिवाद अनुपलब्ध है, यद्यपि दिगम्बर–परम्परा यह स्वीकार करती है कि उसके जो आगमतुल्य ग्रंथ हैं, वे इसी आधार पर निर्मित हुए हैं। अंगबाह्यों के सम्बंध में दोनों परम्पराओं में आंशिक एकरूपता और आंशिक–मतभेद देखा जाता है। दिगम्बर–परम्परा अंगबाह्य की संख्या 14 मानती है, जबकि श्वेताम्बर–परम्परा ऐसा कोई स्पष्ट निर्देश नहीं करती है। तत्वार्थसूत्र के श्वेताम्बर मान्य स्वोपज्ञ–भाष्य में अंगबाह्य को अनेक प्रकार का कहा गया है। दिगम्बर–परम्परा की तत्वार्थ की टीकाओं और धवला में 14 अंगबाह्यों के नामों के जो निर्देश उपलब्ध है, उनमें उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, व्यवहार, कल्पिकाकल्पिक, महाकल्पिक, पुण्डरीक, महापुंडरीक, निशीथ आदि हैं। ज्ञातव्य है कि धवला में अंगबाह्यों के जो 14 नाम गिनाये हैं, उनमें कल्प और व्यवहार भी है। धवला में कप्पाकप्पीय, महाकप्पीय, पुण्डरीक और महापुण्डरिक – ये चार नाम तत्वार्थभाष्य की अपेक्षा अधिक हैं और उसमें भाष्य में उल्लेखित दशा और ऋषिभाषित को छोड़ दिया गया है, साथ ही, इन नामों में से पुण्डरीक और महापुण्डरीक को छोड़कर शेष सभी ग्रंथ श्वेताम्बर–परम्परा में भी मान्य हैं। कल्पाकल्पिक का उल्लेख नन्दीसूत्र में है, किन्तु अब यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। शेष सभी ग्रंथ श्वेताम्बर–परम्परा में आज भी उपलब्ध माने जाते हैं। श्वेताम्बर–परम्परा में सूत्रकृतांग में पुण्डरीक नामक एक अध्ययन भी है।

जहाँ तक आगम–साहित्य के वर्गीकरण का प्रश्न है, श्वेताम्बर–परम्परा में दो प्रकार के वर्गीकरण उपलब्ध होते हैं– 1. नन्दीसूत्र का प्राचीन वर्गीकरण और 2. जिनप्रभ की 'विधिमार्ग प्रपा' का आधुनिक वर्गीकरण। नन्दीसूत्र का प्राचीन वर्गीकरण लगभग ईसा की पाँचवीं शताब्दी का है, जबकि आधुनिक वर्गीकरण प्रायः ईसा की 13वीं–14वीं शती से प्रचलन में है। नन्दीसूत्र के प्राचीन वर्गीकरण में आगमों को सर्वप्रथम अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य– ऐसे पूर्व में प्रचलित दो विभागों में ही बाँटा गया है, किन्तु इसकी विशेषता यह है कि वह अंगबाह्य–ग्रन्थों के प्रथमतः दो विभाग

करता है– 1 आवश्यक और 2 आवश्यक–व्यतिरिक्त। पुनः, आवश्यक के सामायिक आदि छह विभाग किये गये हैं। आवश्यक–व्यतिरिक्त को पुनः, कालिक और उत्कालिक– ऐसे दो विभागों में बाँटा गया है। इसमें कालिक के अंतर्गत 31 ग्रंथ और उत्कालिक के अंतर्गत 29 ग्रंथ हैं। इस प्रकार, नन्दीसूत्र में 12 अंगप्रविष्ट, 6 आवश्यक, 31 कालिक और 29 उत्कालिक, कुल 78 ग्रंथ उल्लेखित हैं, इनमें से कुछ वर्तमान में अनुपलब्ध भी हैं। पूर्ण सूची इस प्रकार है–

श्रुत (आगम)–साहित्य

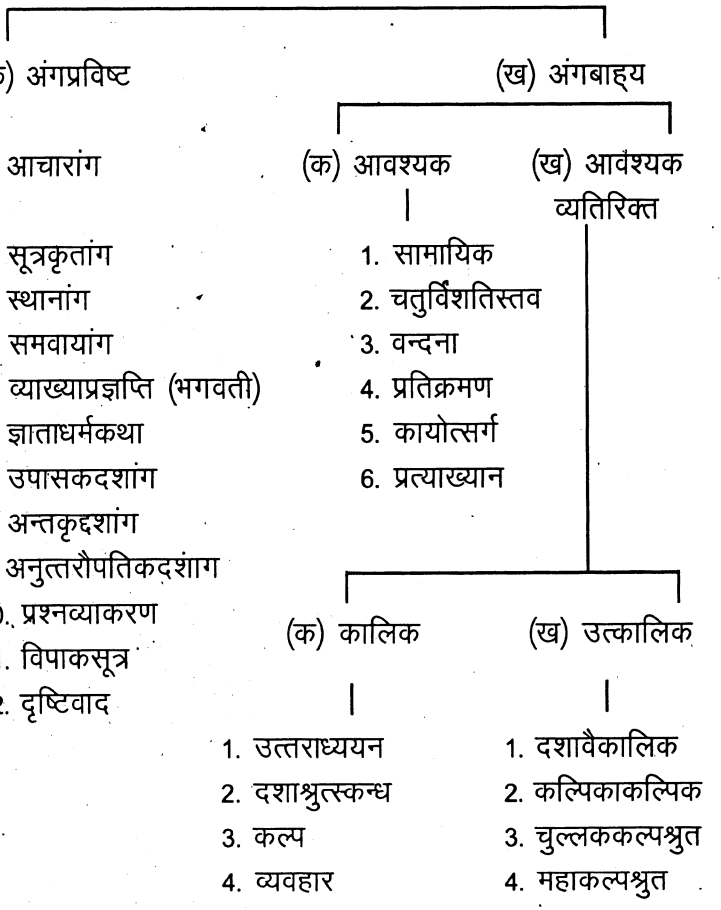

5. निशीथ	5. महानिशीथ
6. महानिशीथ	6. राजप्रश्नीय
7. ऋषिभाषित	7. जीवाभिगम
8. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	8. प्रज्ञापना
9. द्वीपसागर प्रज्ञप्ति	9. महाप्रज्ञापना
10. चन्द्रप्रज्ञप्ति	10. प्रमादाप्रमाद
11. क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्ति	11. नन्दी
12. महल्लिकाविमानप्रविभक्ति	12. अनुयोगद्वार
13. अंगचूलिका	13. देवेन्द्रस्तव
14. वग्गचूलिका	14. तन्दुलवैचारिक
15. विवाहचूलिका	15. चन्द्रवैध्यक
16. अरूणोपपात	16. सूर्यप्रज्ञप्ति
17. वरूणोपपात	17. पौरुषीमण्डल
18. गरूड़ोपपात	18. मण्डलप्रवेश
19. धरणोपपात	19. विद्याचरण विनिश्चय
20. वैश्रमणोपपात	20. गणिविधा
21. वेलन्धरोपपात	21. ध्यानविभक्ति
22. देवेन्दोपपात	22. मरणविभक्ति
23. उत्थानश्रुत	23. आत्मविशोधि
24. समुत्थानश्रुत	24. वीतरागश्रुत
25. नागपरिज्ञापनिका	25. संलेखनाश्रुत
26. निरयावलिका	26. विहारकल्प
27. कल्पिका	27. चरणविधि
28.कल्पावंतसिका	28 आतुरप्रत्याख्यान
29. पुष्पिता	29. महाप्रत्याख्यान
30. पुष्पचूलिका	
31. वृष्णिदशा	

जहाँ तक श्वेताम्बर में प्रचलित आधुनिक वर्गीकरण का प्रश्न है, उसकी चर्चा के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है– उसकी स्थानकवासी

और तेरापंथ की परम्पराएँ मात्र 32 ही आगम मान्य करती हैं। श्वेताम्बर–मूर्त्तिपूजक–परम्परा में भी दो मान्यताएँ हैं– (1) 45 आगमों की और (2) 84 आगमों की। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि 84 आगमों की सूची के अंतर्गत 32 और 45 आगमग्रंथ भी सम्मिलित हो जाते हैं। स्थानकवासी एवं तेरापंथी–परम्परा 11 अंग, 12 उपांग, 4 छेद, 4 मूल और 1 आवश्यक–ऐसे 32 आगम मान्य करती है। श्वेताम्बर–मूर्त्तिपूजक–परम्परा में भी 11 अंग, 12 उपांग के नाम समान हैं। स्थानकवासी–परम्परा द्वारा मान्य 4 मूल में (1) उत्तराध्ययन और (2) दशवैकासिक–दोनों नाम समान हैं। नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार को श्वेताम्बर–मूर्त्तिपूजक–परम्परा चुलिकासूत्र में रख देती हैं। 6 छेदसूत्रों में महानिशीथ और जीतकल्प– ये दो नाम अधिक हैं, चार नाम समान हैं मूल में नन्दी और अनुयोगद्वार के स्थान पर आवश्यक और पिण्डनिर्युक्ति– ये दो नाम आते हैं। 10 प्रकीर्ण स्थानकवासी और तेरापंथी–परम्परा को मान्य नहीं है। श्वेताम्बर–मूर्त्तिपूजक–परम्परा द्वारा मान्य 84 आगमों की सूची निम्न है, इसमें बत्तीस और पैंतालीस भी समाहित हैं।

84 आगम (श्वेताम्बर सम्मत)

1–11 ग्यारह अंग – आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशांग, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण और विपाक।

12–23 बारह उपांग – औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कल्पिका, कल्पावंतसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा। अन्तिम पांचों का संयुक्त नाम निरयावलिका है।

24–27 चार मूलसूत्र – आवश्यकसूत्र, दशवैकालिक, उत्तराध्ययनानि, पिंडनिर्युक्ति (अथवा ओधनिर्यक्ति)।

28–29 दो चूलिकासूत्र – नन्दीसूत्र, अनुयोगद्वार।

30–35 छः छेदसूत्र – निशीथ, महानिशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कंध, पंचकल्प (विच्छिन्न)।

36–45 दस प्रकीर्णक – चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा,

तन्दुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, देवेन्द्रस्तव, गणिविद्या, महाप्रत्याख्यान, वीरस्तव संस्तारक।

(किसी के मत से 'वीरस्तव' और 'देवेन्द्रस्तव'– दोनों का समावेश एक में है और 'संस्तारक' के स्थान पर 'मरणसमाधि' और 'गच्छाचारपयन्ना" है।)

46 कल्पसूत्र (पर्युषण कल्प जिनचरित, स्थविरावलि, सामाचारी सहित)

47 यतिजीतकल्प (सोमप्रभसूरि)

48 श्राद्धजीतकल्प (धर्मघोषसूरि)

49 पाक्षिकसूत्र (आवश्यकसूत्र का अंग है)

50 क्षमापनासूत्र (आवश्यकसूत्र का अंग है)

51 वंदित्तु (आवश्यकसूत्र का अंग है)

52 ऋषिभाषित

53–62 बीस अन्य पयन्ना – अजीवकल्प, गच्छाचार, मरणसमाधि, सिद्धप्राभृत, तीर्थोद्गारिक, आराधनापताका, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, ज्योतिषकरण्डक, अंगविद्या, तिथिप्रकीर्णक, पिण्डविशुद्धि, सारावली, पर्यन्ताराधना, जीवविभक्ति, कवच प्रकरण, योनिप्राभूत, अंगचूलिया, वग्गचूलिया, वृद्धचतुःशरण, जम्बूपयन्ना।

63–83 ग्यारह निर्युक्ति–(भद्राबाहुकृत)

आवश्यकनिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति, उत्तराध्ययननिर्युक्ति, आचारांग–निर्युक्ति, सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्ति (अनुपलब्ध), बृहत्कल्पनिर्युक्ति, व्यवहारनिर्युक्ति, दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति, ऋषिभाषितनिर्युक्ति, (अनुपलब्ध), संसक्तनिर्युक्ति।

84 विशेषावश्यकभाष्य।

ये 84 आगम–ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं।

आगमों का रचना काल

सामान्यतया, आगम–साहित्य में अंग–आगमों को गणधरकृत और अंगबाह्य ग्रंथों को आचार्यकृत माना जाता है, किन्तु बौद्धिक–ईमानदारी से विचार करने पर उपलब्ध सभी अंग–आगम भी किन्हीं एक गणधर की या गणधरो के समूह की रचना हो– ऐसा नहीं माना जा सकता है।

क्योंकि अंग आगमों की विषयवस्तु उनके ही अंतःसाक्ष्यों के आधार पर पर्याप्त रूप से बदल गई है। प्रथमतः, आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध भी कुछ परवर्तीकालीन है। उसके प्रथम श्रुतस्कंध की मुख्य–मुख्य बातों को छोड़कर उनमें भी कालक्रम में कुछ बातें डाल दी गई हैं। यद्यपि भगवतीसूत्र को भगवान् महावीर और गौतम के बीच संवाद रूप माना जाता है, किन्तु इसमें नन्दीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र आदि के जो निर्देश उपलब्ध हैं, वे यह तो अवश्य बताते हैं कि वल्लभी की वाचना के समय इसे न केवल लिपिबद्ध किया गया, अपितु इसकी सामग्री को व्यवस्थित और सम्पादित भी किया गया है। ज्ञाताधर्मकथा महावीर द्वारा कथित दृष्टान्तों एवं कथाओं के संकलन रूप है। भाषिक–परिवर्तन के बावजूद भी यह ग्रंथ अपने मूल स्वरूप में बहुत–कुछ सुरक्षित रहा है। उपासकदशा की भी यही स्थिति है, किन्तु अन्तकृत्दशा की विषयवस्तु पर्याप्त रूप से परिवर्तित और परिवर्द्धित हुई है। उसमें स्थानांग के उल्लेखानुसार 10 अध्ययन थे, जबकि आज 8 वर्ग और 10 अध्ययन हैं, यही स्थिति अनुत्तरोपपातिक और विपाकसूत्र की भी मानी जा सकती है। प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु तो पूर्णतः दो बार बदल चुकी है। विपाकसूत्र में आज सुखविपाक और दुखःविपाक ऐसे दो वर्ग हैं और बीस अध्ययन हैं, जबकि पहले इसमें दस ही अध्ययन थे। इसी प्रकार, कुछ आगमों की विषयवस्तु पूर्णतः बदल गई है और कुछ की विषय–वस्तु में कालक्रम में परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं संशोधन हुआ है, किन्तु आचारांग, सूत्रकृतांग, भगवती, ज्ञाता आदि में बहुत–कुछ प्राचीन अंश आज भी सुरक्षित हैं।

अंगबाह्य साहित्य में उपांगसूत्रो में प्रज्ञापना आदि के कुछ के कर्ता और काल सुनिश्चित हैं। प्रज्ञापना ईसापूर्व या ईसा की प्रथम शती की रचना है। उववाई या औपपातिकसूत्र की विषयवस्तु में भी, जो सूचनाए उपलब्ध है और जो सूर्याभदेव की कथा वर्णित है, ये सब उसे ईसा की प्रथम शती के आस–पास का ग्रंथ सूचित करती हैं। राजप्रश्नीय का कुछ अंश तो पालीत्रिपिटक के समरूप है। उसमें आत्मा या चित्तसत्ता के प्रमाणरूप जो तर्क दिये गये हैं, वे त्रिपिटक के समान ही हैं, जो उसकी प्राचीनता के प्रमाण भी हैं। सूर्यप्रज्ञप्ति एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति का ज्योतिष भी

वेदांग ज्योतिष के समरूप होने से इन ग्रंथों की प्राचीनता को प्रमाणित करता है। उपांग–साहित्य के अन्य ग्रंथ भी कम–से–कम वल्भीवाचना अर्थात् ईसा की पांचवीं शती के पूर्व के ही है। छेदसूत्रो में से कल्प, व्यवहार, दशा और निशीथ के उल्लेख तत्त्वार्थ में है। तत्त्वार्थ के प्राचीन होने में विशेष संदेह नहीं किया जा सकता है। इनमें साधु के वस्त्र, पात्र आदि के जो उल्लेख हैं, वे भी मथुरा की उपलब्ध पुरातत्त्वीय प्राचीन सामग्री से मेल खाते हैं, अतः वे भी कम–से–कम ईसा–पूर्व या ईसा की प्रथम शती की कृतियाँ हैं। अंत में, दशवैकालिक और उत्तराध्ययन की प्राचीनता भी निर्विवाद है। यद्यपि विद्वानों ने उत्त्राध्ययन के कुछ अध्यायों को प्रक्षिप्त माना है, फिर भी ई.पू. में उसकी उपस्थिति से इंकार नहीं किया जा सकता है। दशवैकालिक का कुछ संक्षिप्त रूप तो आर्य श्यम्भव की रचना है– इससे इंकार नहीं किया जा सकता है। नन्दी और अणुयोग अधिक प्राचीन नहीं हैं। प्रकीर्णकों में 9 का उल्लेख स्वयं नन्दीसूत्र की आगमों की सूची में है, अतः उनकी प्राचीनता भी असंदिग्ध है, यद्यपि सारावली आदि कुछ प्रकीर्णक वीरभद्र की रचना होने से 10वीं शती की रचनाएँ हैं।

दिगम्बर परम्परा में मान्य आगमतुल्य ग्रंथ

यद्यपि दिगम्बर–परम्परा आगमों के विच्छेद की पक्षधर है, फिर भी उसकी यह मान्यता है कि दृष्टिवाद के अंतर्गत रहे हुए पूर्वज्ञान के आधार पर कुछ आचार्यो ने आगमतुल्य ग्रंथों की रचना की थी, जिन्हें दिगम्बर परम्परा आगम स्थानीय ग्रन्थ मानकर ही स्वीकार करती है। इनमें गुणधर कृत कसायपाहुड़ प्राचीनतम है। इसके बाद पुष्पदंत और भूतबलि कृत छक्खण्डागम (षट्खण्डागम) का क्रम आता है। ज्ञातव्य है कि ये दोनों ग्रंथ प्राकृतभाषा में निबद्ध हैं और जैन–कर्मसिद्धांत से सम्बंधित हैं। इन पर लगभग नौवीं या दसवीं शती में धवल, जयधवल और महाधवल नाम से विस्तृत टीकाएँ लिखी गईं। ये टीकाएँ संस्कृत मिश्रित प्राकृत–भाषा में मिलती है। किन्तु इसके पूर्व इन पर चूर्णिसूत्रों की रचना प्राकृत–भाषा में हुई थी। इन दोनों ग्रंथों के अतिरिक्त दिगम्बर–परम्परा मे वट्टकेर–रचित मूलाचार और आर्य शिवभूति–रचित भगवती आराधना– ये दोनों प्राकृत–ग्रंथ

भी आगम–स्थानीय माने जाते हैं। मैं इन चारों ग्रन्थों को दिगम्बर–परम्परा की ही यापनीय–शाखा के आचार्यों की कृति मानता हूँ। इनके अतिरिक्त, आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथ समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकायसार, अष्टपाहुड दसभक्ति आदि ग्रंथों को भी आगमतुल्य ही माना जाता है। इनके साथ ही, यतिवृषभकृत तिलोयपन्नति, प्रभाचन्द्रकृत द्रव्यसंग्रह, कुन्दकुन्द–कृत वारस्स अणुवेक्खा, कार्त्तिकयानुप्रेक्षा आदि भी दिगम्बर–परम्परा में रचित प्राकृत के महत्वपूर्ण आगम–स्थानीय ग्रंथ हैं। दिगम्बरों में प्राकृतभाषा में मौलिक–ग्रंथ लिखने की यह परम्परा पूर्व मध्यकाल और मध्यकाल में भी यथावत् जीवित रही है। लगभग 10 वीं शती में चामुण्डराय ने गोम्मट्टसार नामक ग्रंथ के दो खण्ड जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड, जो मूलतः–कर्मसिद्धांत से सम्बंधित है, प्राकृतभाषा में ही लिखे हैं। इसी प्रकार, 12वीं शती में वसुनन्दी ने श्रावकाचार और 14वीं शती में भट्टारक पद्मनन्दी ने 'धम्मरसायण' नामक ग्रंथ भी प्राकृतभाषा में लिखे। इसके पूर्व भी, अंगपण्णत्ति आदि कुछ प्राकृत–ग्रंथ दिगम्बर–आचार्यों द्वारा लिखे गये थे। यद्यपि दिगम्बर–परम्परा में प्राकृत ग्रंथो की भाषा मुख्यतः शौरसेनी–प्राकृत ही रही है, फिर भी वसुनन्दी के श्रावकाचार और भट्टारक पद्मनन्दी के धर्मरसायण की भाषा महाराष्ट्री–प्राकृत देखी जाती है। ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर–आचार्यों ने अर्द्धमागधी और मुख्यतः महाराष्ट्री–प्राकृत को अपनी लेखनी का विषय बनाया। उपरोक्त ग्रंथों के साथ ही जैन कर्मसाहित्य का पंचसंग्रह नामक ग्रंथ भी प्राकृत–भाषा में उपलब्ध है। ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में प्राकृत–भाषा–निबद्ध पंचसंग्रह उपलब्ध है, यद्यपि दिगम्बर–परम्परा में संस्कृत–भाषा में भी पंचसंग्रह नामक ग्रंथ मिलते हैं। श्वेताम्बर–परम्परा में प्राचीन कम्मपयड़ी आदि और देवेन्द्रसूरि–रचित नवीन पांच कर्मग्रन्थ भी प्राकृत में ही रचित हैं।

आगमिक–व्याख्या–साहित्य

आगमों के पश्चात् प्राकृत–साहित्य की रचना के क्रम की दृष्टि से आगमिक–व्याख्याओं का क्रम आता है। इनमें निर्युक्तियाँ प्राचीनतम हैं। रचना–काल की अपेक्षा से निर्युक्तियाँ आर्यभद्र की रचनाएँ हैं और उनका

रचनाकाल ईस्वी सन् की प्रथम या द्वितीय शती के बाद का नहीं हो सकता है। यद्यपि सभी महत्त्वपूर्ण आगम–ग्रंथों पर नियुक्तियाँ नहीं लिखी गई हैं, आगम–साहित्य के कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथों पर ही निर्युक्तियाँ लिखी गई थीं, जो आज भी उपलब्ध हैं। इनमें प्रमुख हैं– 1. आवश्यक–निर्युक्ति, 2. आचारांग–निर्युक्ति, 3. दशवैकालिक–निर्युक्ति, 4. उत्तराध्ययन–निर्युक्ति, 5. सूत्रकृतांग–निर्युक्ति, 6. दशाश्रुतस्कंध–निर्युक्ति, 7. वृहदकल्पनिर्युक्ति आदि। निशीथसूत्र पर भी निर्युक्ति लिखी गई थी, किन्तु यह निशीथभाष्य में इतनी घुल मिल गई है कि उसे उससे अलग कर पाना कठिन है। इनके अतिरिक्त, सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित पर भी निर्युक्ति लिखे जाने की प्रतिज्ञा तो उपलब्ध है, किन्तु ये निर्युक्तियाँ लिखी भी गई थीं या नहीं, यह कह पाना कठिन है। प्राचीन स्तर की निर्युक्तियाँ उस आगम का संक्षिप्त उल्लेख कर कुछ महत्वपूर्ण शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। इनके अतिरिक्त, निर्युक्ति–साहित्य के दो अन्य ग्रंथ और भी उपलब्ध हैं– 1. पिण्डनिर्युक्ति ओर 2. औधनिर्युक्ति, यद्यपि ये दोनों ग्रंथ दशवैकालिकनिर्युक्ति के ही एक विभाग के रूप में भी माने जाते हैं, साथ ही श्वेताम्बर–मूर्त्तिपूजक–परम्परा इन दोनों को आगम–स्थानीय भी मानती है। गोविंदाचार्य–कृत दशवैकालिक–निर्युक्ति की सूचना तो उपलब्ध हैं, किन्तु वर्तमान में यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

आगमिक–व्याख्या–साहित्य में निर्युक्तियों के बाद भाष्य लिखे गये। भाष्यों में विशेषावश्यकभाष्य विशेष प्रसिद्ध है। इसके तीन विभाग हैं, प्रथम विभाग में पंच ज्ञानों की चर्चा है, दूसरा विभाग गणधरवाद के नाम से प्रसिद्ध है, इसमें ग्यारह गणधरो की प्रमुख शंकाओं का निर्देश कर उनके महावीर द्वारा दिये गये समाधानों की चर्चा है। तृतीय विभाग निह्नवों की चर्चा करता है। इसके अतिरिक्त, वर्तमान में वृहत्कल्पभाष्य व्यवहारभाष्य, जीतकल्पभाष्य, पंचकल्पभाष्य भी उपलब्ध हैं। बृहदकल्प पर वृहद्भाष्य और लघुभाष्य ऐसे दो भाष्य मिलते हैं। व्यवहारभाष्य, जीतकल्पभाष्य– ऐसे दो अन्य भाष्य भी मिलते है। पिण्डनिर्युक्तिभाष्य के भी दो संस्करण मिलते हैं। इसी प्रकार, पिण्डनिर्युक्ति पर भी एक अन्य भाष्य लिखा गया है, किन्तु ये तीनो भाष्य मैंने नहीं देखे हैं। भाष्यों में व्यवहारभाष्य, जीतकल्पभाष्य

और वृहत्कल्पभाष्य आज मूल–प्राकृत और उसके हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित भी हैं– इस सम्बंध में समणी कुसुमप्रज्ञाजी का श्रम स्तुत्य है। यह स्पष्ट है कि भाष्य भी मूलतः प्राकृत–भाषा में रचित हैं, साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि निर्युक्ति और भाष्य– दोनों पद्यात्मक हैं, जबकि कालांतर में इन पर लिखी गई चूर्णियाँ प्राकृत–संस्कृत मिश्रित भाषा में गद्य में लिखी गई हैं, फिर भी चूर्णियों की भाषा पर प्राकृत का बाहुल्य है। भाष्यों का रचनाकाल 6–7 शती के लगभग है, यद्यपि कुछ भाष्य परवर्ती भी हैं। चूर्णियां 7 वीं – 8 वीं शती के मध्य लिखी गईं। चूर्णियों में निशीथचूर्णि सबसे महत्त्वपूर्ण और विशाल है, यह अपने मूल स्वरूप में चार खण्डों में प्रकाशित है। इसके साथ ही, आवश्यकचूर्णि भी अति महत्त्वपूर्ण है, यह भी अपने विशाल आकार में मूल मात्र ही दो खण्डों में पूर्व में मुद्रित हुई थी, किन्तु वर्तमान में प्रायः अनुपलब्ध है। इनके अतिरिक्त, अन्य चूर्णियाँ निम्न हैं– आचारांगचूर्णि, उत्तराध्ययनचूर्णि, दशवैकालिकचूर्णि, सूत्रकृतांगचूर्णि, जीतकल्पचूर्णि, नन्दीचूर्णि आदि। इनमें से नन्दीचूर्णि भी प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी से प्रकाशित है। आज इन चूर्णियों के हिन्दी–अनुवाद की महती आवश्यकता हैं।

चूर्णियों के पश्चात् प्राकृत–आगम–साहित्य पर टीकाएँ भी लिखी गई हैं। टीकाएँ प्रायः संस्कृत में हैं। टीकाकारों में हरिभद्र, शीलांक, अभयदेव, मलयगिरि आदि प्रसिद्ध हैं, किन्तु इन टीकाओं में शांतिसूरि की उत्तराध्ययन की पाइअ टीका (प्रायः नौवीं शती) अति प्राचीन एवं प्रसिद्ध है और जो मूलतः प्राकृत–भाषा में ही निबद्ध है । यह लगभग सौ वर्ष पूर्व दो खण्डों में प्रकाशित है। टीकाओं में यही एक ऐसी टीका है, जो प्राकृत–भाषा में लिखित है।

प्राकृत के स्वतंत्रग्रंथ

निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं के साथ ही पूर्व–मध्यकाल में प्राकृत–भाषा में अनेक आगमिक विषयों पर स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे गये। इनमें भी जीवसमास, लोकविभाग, पक्खीसूत्र, संग्रहणीसूत्र, क्षेत्रसमास, अंगपण्णत्ति, अंगविज्जा आदि प्रमुख हैं। इसी क्रम में ध्यान–साधना से सम्बन्धित जिनभद्रगणि का झाणाध्ययन अपरनाम ध्यानशतक (ईसा की

6ठी शती) भी प्रकाश में आया। हरिभद्र के प्राकृत–योग–ग्रंथों में योगविंशिका, योगशतक, सम्बोधप्रकरण प्रसिद्ध ही हैं। इसी प्रकार, हरिभद्र का धूर्ताख्यान भी बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है, किन्तु हम इसकी चर्चा प्राकृत–कथा–साहित्य में करेंगे।

इसी क्रम में, उपदेशपरक प्राकृत–ग्रंथों में हरिभद्र के सावयपण्णति, पंचाशकप्रकरण, पंचसुत्त, पंचवत्थु, संबोधप्रकरण आदि भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इसी क्रम में अन्य उपदेशात्मक–ग्रन्थों में धम्मसंगहिणी, संबोधसत्तरी, धर्मदासगणि की उपदेशमाला, खरतरगच्छीय–आचार्य सोमप्रभ की उपदेशपुष्पमाला आदि भी प्रसिद्ध हैं। इसी क्रम में, दिगम्बर–परम्परा में देवसेन (10वीं शती) के भावसंग्रह, दर्शनसार, आराधनासार, ज्ञानसार, सावयधम्मदोहा आदि भी प्राकृत की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

प्राकृत कथा साहित्य

यद्यपि आगमों में अनेक ग्रंथ तो पूर्णतः कथा रूप ही हैं, जैसे– ज्ञाताधर्मकथा उपासकदशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, अन्तरकृत्दशा, विपाकसूत्र औपपातिकसूत्र, पयूर्षणाकल्प आदि। जम्बूदीपप्रज्ञाप्ति का कुछ अंश, जो ऋषभदेव, भरत आदि के चरित्र का वर्णन करता है, भी कथा–रूप ही है, किन्तु इनके अतिरिक्त भी आगमिक–व्याख्या–साहित्य में, विशेष रूप से निर्युक्तियों भाष्यों और चूर्णियों में भी अनेक कथाएँ है। पिण्डनिर्युक्ति, संवेगरंगशाला, आराधनापताका आदि में भी अनेक कथाओं के निर्देश या संकेत उपलब्ध है। विषयों का स्पष्टीकरण करने में ये कथाएं बहुत ही सार्थक सिद्ध होती हैं। इन उपदेशात्मक–कथाओं के अतिरिक्त जैन–आचार्यों ने अनेक आदर्श पुरुषों के जीवन–चरित्रों पर स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे हैं। इनमें तीर्थंकरों और शलाका–पुरुषों के चरित्र प्रमुख हैं। आगमों में भगवान् महावीर आदि के जीवन के कुछ प्रसंग ही चित्रित हैं। तीर्थंकरों एवं अन्यशलाका पुरुषों के चरित्र को लेकर जो प्राकृत–भाषा में स्वतंत्र ग्रंथ लिखे गये, उनमें सर्वप्रथम विमलसूरि के 'पंउमचरियं' की रचना हुई है। रामकथा के संदर्भ में वाल्मिकी की संस्कृत–भाषा में निबद्ध 'रामायण' के पश्चात् प्राकृत–भाषा में रचित यही एक प्रथम ग्रंथ है, यह महाराष्ट्री–प्राकृत में निबद्व है। इसका रचनाकाल ईसा की दूसरी शती से पांचवीं शती के

मध्य माना जाता है। इसके पश्चात् प्राकृत–भाषा के कथा–ग्रंथो में संघदासगणिकृत वसुदेबद्धहिण्डी (छठवींशती) का क्रम आता है। इसमें वसुदेव की देशभ्रमण की कथाएँ वर्णित हैं। इन दोनों ग्रंथों में अनेक आवान्तर–कथाएँ भी वर्णित हैं। इसके पश्चात् आचार्य हरिभद्र के कथाग्रंथों का क्रम आता है। इनमें धूर्त्ताख्यान और समराइच्चकहा प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार, भद्रेश्वरसूरि की कहावली भी प्राकृत–कथा–साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। ज्ञातव्य है कि जहॉ विमलसूरि का 'पउमचरियं' पद्य में है, वहाँ संघदासगणिकृत वसुदेवहिण्डी और हरिभद्र का धूर्ताख्यान गद्य में है। नौवीं–दसमीं शती में रचित शीलांक ने 'चउप्पणमहापुरिसचरियं' भी प्राकृतभाषा की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसी क्रम में, वर्द्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि की 'लीलावईकहा' भी प्राकृत–भाषा में निबद्ध एक श्रेष्ठ रचना है। प्राकृत–भाषा में निबद्ध अन्य चरित–काव्यों में 10वीं शती का सुरसुंदरीचरियं, गरूडवहों, सेतुबंध, कंसवहो, चन्द्रप्रभमहत्तरकृत सिरिविजयचंदकेवलीचरियं (सं. 1027), देवेन्द्रगणीकृत सुदंसणचरियं, कुम्माषुत्तचरियं, जंबूसामीचरियं, महावीरचरियं (12वीं शती पूवार्द्ध) गुणपालमुनिकृत गद्यपद्य युक्त जंबुचरिय, नेमीचन्द्रसूरि कृत रयणचूडचरियं, सिरिपासनाहचरियं, लक्ष्मणगणिकृत सुप्पासंनाहचरियं (सभी लगभग 12वीं शती), इसी कालखण्ड में रामकथा– सम्बन्धी दो महत्त्वपूर्ण कृतियाँ भी सृजित हुई थीं, यथा– सियाचरियं, रामलखनचरियं। इससे कुछ परवर्तीकालखण्ड की महेन्द्रसूरि (सन् 1130) कृत नम्मयासुदंरी भी एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसी क्रम में 17 वीं शती में भुवनतुंगसूरि ने कुमारपालचरियं की रचना की। इससे ज्ञात होता है कि प्राकृत में काव्य लिखने की यह परम्परा चौथी–पांचवीं शती से लेकर 17वीं शती तक जीवित रही है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य हैं कि श्वेताम्बर–परम्परा में कालक्रम में महाराष्ट्रीप्राकृत में तीर्थंकर–चरित्रों पर अनेक ग्रंथ लिखे गये यथा– आदिनाहचरियं, सुमईनाहचरियं, वसुपुज्जचरियं, अनन्तनाहचरियं, संतिनाहचरिय, मुनिसुण्वयसामीचरियं, नेमिनाहचरियं, पासनाहचरियं, महावीरचरियं आदि। शौरसेनी–प्राकृत–भाषा में चरित्रग्रंथों के लिखने की यह धारा दिगम्बर–परम्परा में निरंतर नहीं चली। दिगम्बर–परम्परा में

चरित्रग्रंथ तो लिखे जाते रहे हैं, किन्तु दिगंम्बर–आचार्यों ने या तो संस्कृत को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया या फिर अपभ्रंश भाषा को अपनाया। यद्यपि श्वेताम्बर–आचार्यों ने परवर्तीकाल में भी अपभ्रंश भाषा में कुछ चरित्रग्रंथ लिखे, किन्तु संख्या की दृष्टि से वे दिगम्बर–परम्परा की अपेक्षा अतिन्यून ही हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि वैदिक एवं जैन–धारा के संस्कृत–नाटकों में भी बहुल अंश प्राकृत–भाषा में ही होता है, वे भी प्राकृत–साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा हैं। इसकी चर्चा स्वतंत्र शीर्षक के द्वारा आगे करेंगे।

यद्यपि अपभ्रंश भी प्राकृत–भाषा से ही विकसित हुई है, और प्राकृतों तथा आधुनिक उत्तरभारतीय प्रमुख भाषाओं के मध्य योजक कड़ी भी रही है। इस अपभ्रंश में श्वेताम्बर, दिगम्बर आचार्यों ने निम्न चरितकाव्य लिखे– यथा– रिट्ठनेमिचरिउ, सिरिवालचरिउ, वड्ढमाणचरिउ, पउमचरिउ, सुदंसणचरिउ, जम्बूसामीचरिउ, णाग्गकुमारचरिउ, पदनयराजयचरिउ आदि। ज्ञातव्य हैं, कि ये सूचनाएँ मेरी जानकारी तक ही सीमित हैं, सम्भव है कि जैनकथा–साहित्य के प्राकृत–भाषा में रचित अनेक ग्रन्थ मेरी जानकारी में नहीं होने से छूट गये हों, इस हेतु मैं क्षमा–प्रार्थी हूँ।

प्राकृत में आगम–ग्रन्थों, आगमिक–व्याख्याओं, आगमिक–विषयों एवं उपदेशपरक–ग्रन्थों के अतिरिक्त भी साहित्य की अन्य विधाओं पर भी ग्रन्थ लिखे गये हैं। प्राकृत के व्याकरण से सम्बन्धित ग्रन्थ प्राकृत–भाषा में नहीं लिखे गये हैं, वे मूलतः संस्कृत में रचित हैं और संस्कृत–भाषा के आधार पर प्राकृत के शब्द–रूपों को व्याख्यायित करने का प्रयत्न करते है, इनके रचयिता भी जैन और अजैन–दोनों ही वर्गों से हैं। इनके ग्रन्थों में वररुचिकृत प्राकृतप्रकाश, मार्कण्डेयरचित प्राकृतसर्वस्व, हेमचन्द्रकृत सिद्धहेम– व्याकरण का आठवाँ अध्याय प्रमुख हैं। प्राकृत–कोश–ग्रन्थों में धनपालकृत पाइयलच्छीनाममाला, हेमचन्द्रकृत रयणावली अर्थात् देशीनाममाला प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त भी अभिमानसिंह, गोपाल, देवराज आदि ने भी देश्यशब्दों के कोश–ग्रन्थ रचे थे, किन्तु वे आज अनुपलब्ध है। इसी प्रकार, द्रोण, पादलिप्तसूरि, शीलांक–रचित प्राकृत–शब्दकोशों के सम्बन्ध में आज विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। प्राकृत के कोशों में विजयराजेन्द्रसूरिकृत

–'अभिधानराजेन्द्रकोश', शेठहरगोविन्ददासकृत, 'पाइयसद्दमहण्णव', मुनिरत्नचन्द्रकृत 'अर्धमागधीकोश', पाइयसद्दमहण्णव पर आधारित के. आर. चन्द्रा का प्राकृत–हिन्दी–कोश The student's English-paiya Dic tionary आदि ही प्रमुख है। इसके अतिरिक्त, प्राकृत शब्द–रूपों को लेकर जैन–विश्वभारती संस्थान से आचार्य तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञजी के निर्देशन में तैयार निम्न कोश–ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हैं– 1. आगमशब्दकोश, 2. देशीशब्दकोश, 3. निरूक्तकोश, 4. एकार्थककोश, 5. जैन–आगम–वनस्पतिकोश 6. जैन आगम प्राणीकोश 7. श्री भिक्षु–आगमकोश, भाग–1 एवं भाग–2 आदि।

प्राकृत नाटक–

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्राचीन नाटक और सट्टक प्रायः संस्कृत–भाषा की रचनाएँ माने जाते हैं, किन्तु संस्कृत–नाटकों में प्रायः बहुल अंश प्राकृत का ही होता है, अतः मुख्यता प्राकृतों की होने से उन्हें प्राकृत–भाषा का भी माना जा सकता है। ये नाटक भी जैन एवं अजैन–दोनों परम्पराओं में लिखे गये हैं। कुछ नाटक ऐसे भी हैं, जो मात्र प्राकृत–भाषा में रचित हैं, और सट्टक के रूप में जाने जाते है। यथा–कप्पूरमंजरी, विलासवइ, चंदलेहा, आनन्दसुंदरी, सिंगारमंजरी आदि। जैन–नाटककारों में दिगम्बर हस्तिमल प्रसिद्ध हैं। इनके निम्न नाटक उपलब्ध हैं– अंजना पवनंजय, मैथिलीकल्याण, विक्रान्तकौरव, सुलोचना और सुभद्राहरण। श्वेताम्बरों में आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने जहाँ एक ओर संस्कृत में नाट्य –दर्पण नामक ग्रन्थ लिखा, वही प्राकृत संस्कृत मिश्रित भाषा में अनेक–नाटकों की भी रचना की यथा– कौमुदीमित्रानन्द, नतविलास, यादवाभ्युदय, रधुविलास, राधषाभ्युदय, वनमाला (नाटिका), सत्यहरिशचन्द्र। इसके अतिरिक्त, अजैन–लेखकों द्वारा रचित नाटकों, सट्टको आदि में भी प्राकृत के अंश मौजूद है।

ज्योतिष –

यद्यपि चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति प्राकृत भाषा में रचित ज्योतिष–सम्बन्धी प्रमुख आगम–ग्रन्थ हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त भी जैन–परम्परा में अनेक

ज्योतिष सम्बन्धी ग्रन्थ प्राकृत भाषा में भी रचित हैं, यथा– गणिविज्जा, अंगविज्जा, जोइसकरंडक (ज्योतिषकरण्डक–प्रकीर्णक), जोतिस्सार, विवाहमण्डल, लग्गसुद्धि, दिणसुद्धि, गणहरहोस, जोइसदार, जोइसचक्कवियार, जोइस्सहीर आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनाचार्यों ने प्राकृत–भाषा में विपुल ग्रन्थों का सर्जन किया था। संस्कृत–भाषा में तो उनके अनेकों ज्योतिष–सम्बन्धी ग्रन्थ हैं ही। 'आयनाणतिलय' नामक फलित–ज्योतिष का जैन–आचार्य वोसरि का भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्राप्त होता है।

निमित्त शास्त्र–

निमित्त–शास्त्र भी जैनाचार्यों का प्रिय विषय रहा है। जयपायड इस विषय की प्राकृत–भाषा की एक प्रसिद्ध रचना है। इसके अतिरिक्त, निमित्तपाहुड, जोणीपाहुड, रिट्ठसम्मुच्चय, साणकय (श्वानकृत), छायादार, नाडीदार, उवस्सुइदार, निमित्तदार, रिट्ठदार, पिपीलियानाण, करलक्खण छींकवियार आदि इस विषय की प्राकृत–कृतियाँ हैं।

इस प्रकार, शिल्पशास्त्र में ठक्करफेरूकृत वत्थुसारपयरण आदि ग्रन्थ भी प्राकृत में उपलब्ध हैं। प्राकृत–आगम–साहित्य में भी जैन–खगोल, भूगोल, गणित, चिकित्साशास्त्र, प्राणीविज्ञान आदि से सम्बन्धित विषयवस्तु प्राकृत भाषा में उपलब्ध है। आज जैनाचार्यों द्वारा प्राकृतभाषा में रचित अनेक ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं एवं शोध की अपेक्षा रखते हैं। विस्तारभय से मैं अधिक गहराई में न जाकर इस चर्चा को यही विराम दे रहा हूँ। मैने इस आलेख में प्राकृत भाषा में रचित जैन–कृतियों के नाममात्र दिये हैं। जहाँ तक सम्भव होसका लेखक और रचनाकाल का भी संकेत मात्र किया है। ग्रन्थ की विषय वस्तु एवं अन्य विशेषताओं की कोई चर्चा नहीं की है। अन्यथा यह आलेख स्वयं एक पुस्तकाकार हो जाता है। यह भी सम्भव है कि मेरी जानकारी के अभाव में कुछ प्राकृत–ग्रन्थ छूट भी गये हों, एतदर्थ मैं क्षमा–प्रार्थी हूँ। विद्वानों से प्राप्त सूचना पर उन्हें सम्मिलित किया जा सकेगा।

जैनों का संस्कृत साहित्य

भारतीय–संस्कृति की दो शाखाएं हैं – 1. श्रमण और 2. वैदिक।

श्रमणधारा की भी अनेक परम्पराएँ रही हैं, उनमें जैन, बौद्ध, सांख्य, आजीवक एवं चार्वाक प्रमुख धाराएँ हैं। जहाँ तक इन श्रमण–धाराओं के भारतीय–संस्कृत साहित्य को अवदान का प्रश्न है, उसमें आजीवक धारा का कोई भी साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार, चार्वाक–परम्परा का भी एक–मात्र ग्रन्थ 'तत्त्वोप्लवसिंह' प्राप्त माना जाता है, जो संस्कृत–भाषा में लिखित है और मूलतः न्यायशास्त्र का ग्रन्थ है, इसमें भी विविध प्रमाणों और उन पर आधारित मान्यताओं का खण्डन ही मिलता है। श्रमण–धारा के अनेक विद्वानों की यह मान्यता रही है कि सांख्य और योग–परम्परा भी अवैदिक हैं और श्रमण–धारा की ही निकटवर्ती हैं। इनका सभी प्राचीन साहित्य संस्कृत–भाषा में ही उपलब्ध है, यथा–सांख्यसूत्र, योगसूत्र, सांख्यकारिका आदि और उन पर लिखित अनेक वृत्तियाँ एवं टीकाएं। सांख्य और योग परम्परा श्रमण धारा का अंग है या नहीं है– यह एक विवादास्पद प्रश्न है मैं यहाँ इस पर कोई चर्चा न करते हुए मूलतः श्रमण–धारा के दो अंगो– जैन और बौद्ध धारा के सन्दर्भ में ही चर्चा करूंगा। बौद्धधर्म की हीनयान–शाखा के मूल ग्रन्थ, जो त्रिपिटक–साहित्य के रूप मे जाने जाते हैं, वे मूलतः पाली भाषा में उपलब्ध हैं। प्राकृत–भाषा के विभिन्न रूपों में पाली एक ऐसी भाषा है, जिसका अन्य प्राकृत भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत से अधिक नैकट्य है। कुछ विद्वानों की मान्यता यह भी है कि 'पाली' मूलतः मागधी है, फिर भी इसकी अशोक के पाली–अभिलेखों की अपेक्षा भी संस्कृत से अधिक निकटता देखी जाती है। बौद्ध–परम्परा में लगभग 5 वीं शती से संस्कृत–भाषा का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। उसके पूर्व का समग्र बौद्ध–साहित्य मागधी में ही था और मागधी का संस्कार करके ही पाली–भाषा बनी है। उसका यह संस्कार लौकिक–संस्कृत के सहारे हुआ, अतः पाली अन्य प्राकृतों की अपेक्षा संस्कृत के अधिक निकट है। न केवल बौद्ध–परम्परा की हीनयान–शाखा के मूल ग्रन्थ पाली भाषा में पाए जाते हैं, अपितु उन पर लिखी गई अट्टकथाएँ अर्थात टीकाएँ भी पाली में ही मिलती हैं। न केवल इतना, अपितु पाली–भाषा का व्याकरण भी पाली में ही है, किन्तु यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि बौद्ध–परम्परा में हीनयान–शाखा या थेरवादी–शाखा का बल प्रारम्भ में पाली–भाषा पर ही

रहा था, किन्तु परवर्तीकाल में इस परम्परा में न्याय–संबंधी जो ग्रन्थ लिखे गए, वे संस्कृत–भाषा में रहे। इसके विपरीत, जहाँ जैन–परम्परा के मूल–आगम प्राकृत–भाषा में मिलते हैं, वहीं उनकी 8 वीं शती या उससे परवर्ती टीकाएँ और वृत्तियाँ संस्कृत में हैं। इसी प्रकार, प्राकृत के सभी व्याकरण भी संस्कृत–भाषा में लिखे गये हैं और उनका मूल उद्देश्य भी संस्कृत के विद्वानों को प्राकृत–भाषा के स्वरूप को समझाकर प्राकृत–ग्रन्थों का अर्थबोध करना ही रहा है। इस सामान्य चर्चा को यहाँ समाप्त करते हुए मैं जैन–परम्परा के आचार्यों के द्वारा संस्कृत–साहित्य को जो अवदान दिया गया है, उसकी ही चर्चा करना चाहता हूँ।

जहाँ तक जैन–परम्परा का प्रश्न है, उसकी श्वेताम्बर और दिगम्बर– दोनों शाखाओं में आगम–तुल्य ग्रन्थ मूलतः प्राकृत में लिखे गए और उनकी निर्युक्ति और उन पर लिखे गए भाष्य भी प्राकृत में ही रहे, किन्तु आगम–साहित्य पर जो चूर्णियाँ और चूर्णि–सूत्र लिखे गए, वे प्राकृत और संस्कृत की मिश्रित भाषा में ही लिखे गए। चूर्णियों के पश्चात् आगम और आगम–तुल्य ग्रन्थों पर जो भी टीकाएँ या वृत्तियाँ लिखी गईं, अथवा दुर्गम पदों की व्याख्याएँ लिखी गईं, वे सभी संस्कृत में ही रहीं। आगम–ग्रन्थों पर संस्कृत में टीकाएँ और वृत्तियाँ लिखने वाले आचार्यों में सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्र का क्रम आता है, जो 8वीं शताब्दी में हुए। हरिभद्र के पश्चात् शीलांक (10वीं शताब्दी), अभयदेव (12वीं शताब्दी), मलधारी हेमचन्द्र (12वीं शताब्दी), मलयगिरि (13वीं शताब्दी), यशोविजय (18वीं शताब्दी) आदि आचार्यों ने प्रायः संस्कृत–भाषा में टीकाएँ लिखने का कार्य किया, जिसका प्रारम्भ 8वीं शताब्दी से माना जाता है किन्तु जैन आचार्यों ने संस्कृत में ग्रन्थ लिखने का कार्य उससे 500 वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ कर दिया था। जैन–परम्परा में लगभग ईसा की 3री शताब्दी में आचार्य उमास्वाति ने सर्वप्रथम संस्कृत–भाषा में तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य की रचना की थी। इसके अतिरिक्त, उमास्वाति की प्रशमरति आदि कुछ अन्य कृतियाँ भी संस्कृत–भाषा में लिखी गईं। इसमें प्रशमरति–प्रकरण और पूजा–प्रकरण प्रमुख हैं। यद्यपि पूजा–प्रकरण का लेखन उमास्वाति ने ही किया था या किसी अन्य ने, इस संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं।

जैन–आचार्यों के द्वारा संस्कृत–भाषा में निबद्ध ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाएँ प्रमुख मानी जा सकती हैं। तत्त्वार्थसूत्र पर दिगम्बर–परम्परा में पूज्यपाद देवनन्दि (लगभग 6 छठवीं शताब्दी) ने सर्वार्थसिद्धि नामक टीका की रचना की। इनकी अन्य कृतियों में इष्टोपदेश, समाधितन्त्र आदि भी हैं, जो संस्कृत–भाषा में लिखी गई है। श्वेताम्बर–धारा में जैन–न्याय और अनेकांतवाद पर आधारित सर्वप्रथम संस्कृत–कृति मल्लवादी क्षमाश्रमण का द्वादशारनयचक्र है। ऐसा माना जाता है कि उस पर सिद्धसेन की जो टीका है, वह भी संस्कृत में है, किन्तु सिद्धसेन की मुख्य कृति सन्मतितर्क मूलतः प्राकृत–भाषा में है। सिद्धसेन की कुछ द्वात्रिंशिकाएँ मिलती है, जो संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं। तत्त्वार्थसूत्र पर श्वेताम्बर–परम्परा में संस्कृत–भाषा में टीका लिखने वाले सिद्धसेन गणि हैं, जो सन्मतितर्क के कर्त्ता सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न हैं और 7 वीं शती के है। जैन–न्याय पर सर्वप्रथम संस्कृत–भाषा में ग्रन्थ लिखने वाले सिद्धसेन दिवाकर हैं, जिन्होंने न्यायावतार नामक एक द्वात्रिंशिका संस्कृत–भाषा में लिखी है। दिगम्बर–परम्परा में पूज्यपाद के पश्चात् अकलंक ने तत्त्वार्थसूत्र पर संस्कृत में राजवार्तिक नामक टीका लिखी, साथ ही, जैनन्याय के कुछ ग्रन्थों का भी संस्कृत में प्रणयन किया। उनके पश्चात् विद्यानन्द ने श्लोकवार्तिक नाम से तत्त्वार्थसूत्र की टीका लिखी। इसके अतिरिक्त, 8वीं और 9वीं शताब्दी में जैनन्याय पर जो भी ग्रन्थ लिखे गये, वे प्रायः सब संस्कृत–भाषा में ही लिखे गये। जैनों के न्याय–संबंधी सभी प्रमुख ग्रन्थ संस्कृत–भाषा में ही लिखे गये। जैन–आचार्यों ने निम्न विषयों पर संस्कृत–भाषा में अपने ग्रन्थों की रचना की– आगमिक–टीकाएँ, वृतियाँ एवं व्याख्याएँ, आगमिक प्रकरण (इस विधा के कुछ ही ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं)। संस्कृत–भाषा में जैनों के अनेक स्तुति–स्तोत्र आदि भी मिलते हैं, जैन–कर्मसिद्धान्त के कुछ ग्रन्थों की संस्कृत–टीकाएँ भी मिलती हैं, जैनयोग एवं ध्यान के कुछ ग्रन्थ भी संस्कृत में हैं, यथा शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव, हेमचन्द्र का योगशास्त्र आदि योग सम्बन्धी निर्वाणकलिका, रूपमण्डन एवं समरांगणसूत्रधार आदि जैन–कला के अनेक ग्रन्थ संस्कृत में ही हैं। जैन–राजनीति के ग्रन्थ, यथा– नीतिवाक्यामृत, अर्हतीति आदि भी संस्कृत में हैं जैन–तीर्थमालाएँ, जैन–विज्ञान

एवं जैन– कर्मकाण्ड का प्रचुर साहित्य संस्कृत–भाषा में ही लिखित है। जैन–इतिहास के क्षेत्र में भी प्रबन्धकोश, प्रबन्ध–चिन्तामणि आदि संस्कृत–भाषा के अनेक ग्रन्थ हैं इसके अतिरिक्त, काव्यशास्त्र, छन्दशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, जैनपुराण एवं जीवनचरित्र, जैनकथासाहित्य (आराधनाकथाकोश आदि) द्वयाश्रयमहाकाव्य, कुछ जैन नाटक, कुछ जैन दूतकाव्य, अनेकार्थक ग्रन्थ जैसे– समयसुंदरकृत अष्टकक्षी आदि अनेक ग्रन्थ संस्कृत–साहित्य के विकास मे जैन–कवियों के अवदान के परिचायक हैं।

संस्कृत का जैन आगमिक व्याख्या साहित्य

आगमिक–व्याख्या–साहित्य में विशेषावश्यकभाष्य नामक प्राकृत कृति जिनभद्रगणि द्वारा लगभग विक्रम की छठवीं शताब्दी में प्राकृत में लिखी गई थी, किन्तु उस पर जिनभद्रगणिश्रमाश्रमण ने स्वयं ही स्वोपज्ञ–व्याख्या संस्कृत में लिखी थी। चूर्णियों के पश्चात् आगमों पर जो संस्कृत में टीकाएँ एवं वृत्तियाँ लिखी गईं, उनमें सर्वप्रथम 8वीं शताब्दी में आचार्य हरिभद्र ने, अनुयोगद्वारवृत्ति, प्रज्ञापना–व्याख्या, आवश्यक–लघुटीका, आवश्यक–वृहदटीका, ओघनिर्युक्तिवृत्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका, जीवाभिगमलघुवृत्ति, दशवैकालिकलघुवृत्ति, दशवैकालिकवृहदवृत्ति, पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति, नन्दि–लघ्ययनटीका, प्रज्ञापना–प्रदेश–व्याख्या आदि टीकाएँ और व्याख्या–ग्रन्थ संस्कृत–भाषा में लिखे थे। इन सभी का लेखनकाल प्रायः 8वीं शताब्दी ही माना जा सकता है। उसके पश्चात्, 10वीं शताब्दी में आचार्य शीलांक ने आचारांग और सूत्रकृतांग– इन दो अंग–आगमों पर संस्कृत में टीकाएँ लिखीं। इसी क्रम में, उन्होंने जीवसमास नामक आगमिक–प्रकरण–ग्रन्थ पर संस्कृत में वृत्ति भी लिखी थी। आगे इसी क्रम में, धनेश्वरसूरि के शिष्य खरतरगच्छ के आचार्य अभयदेवसूरि ने आचारांग और सूत्रकृतांग को छोडकर 9 अंग–आगमों पर संस्कृत में टीकाएँ लिखीं। उनके नाम इस प्रकार हैं– स्थानांगटीका, समवायांगटीका, भगवतीटीका, ज्ञाताधर्मकथाटीका, उपासकदशाटीका, अन्तकृतदशाटीका, अनुत्तरोपपातिकटीका, प्रश्नव्याकरणटीका और विपाकसूत्रटीका। इसी आधार पर उन्हें नवांगी टीकाकार भी कहा जाता है, किन्तु इन नव अंग–आगमों के अतिरिक्त उन्होंने कुछ उपांगों पर एवं आगमिक–प्रकरणों पर संस्कृत में कुछ टीकाएँ

लिखी हैं। इसके अतिरिक्त, उन्होंने हरिभद्र के पंचाशक नामक ग्रन्थ पर एक वृत्ति भी लिखी है। अभयदेव की इन रचनाओं का काल विक्रम–संवत् 1120 से 1135 के मध्य है। आगमिक–व्याख्याकारों में इसके पश्चात् आम्रदेवसूरि के शिष्य नेमीचंदसूरि हुए, उन्होंने भी 12वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उत्तराध्ययनसूत्र पर सुखबोधा नामक संस्कृत–टीका लिखी थी। यद्यपि इसमें पूर्व विक्रम–संवत् 1096 में वादिवेताल शांतिसूरि ने उत्तराध्ययनसूत्र पर प्राकृत में एक टीका लिखी थी, किन्तु प्राकृत में होने के कारण हम उसकी परिगणना प्रस्तुत संस्कृत–टीकाओं में नहीं कर रहे हैं। इसके पश्चात्, आगमिक–टीकाकारों में मलयगिरि का नाम आता है, इन्होंने आवश्यकबृहद्वृत्ति, ओघनिर्युक्तिवृत्ति, चन्द्रप्रज्ञप्तिवृत्ति, जीवाभिगमवृत्ति, नन्दिसूत्रटीका, पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति, प्रज्ञापनावृत्ति, वृहदकल्पभाष्य –पीठिकावृत्ति, भगवती द्वितीयशतकवृत्ति, राजप्रश्नीयवृत्ति, विशेषावश्यकवृत्ति, व्यवहारसूत्रटीका आदि टीका–ग्रन्थ संस्कृत–भाषा में लिखे। इसके अतिरिक्त, उन्होंने अनेक आगमिक–प्रकरणों एवं कर्मग्रन्थों पर भी संस्कृत में टीकाएँ लिखीं, यथा– कर्मप्रकृतिटीका, पंचसग्रहटीका, क्षेत्रसंमासवृत्ति, षडशीतिवृत्ति, सप्ततिकाटीका आदि। इसके पश्चात् आगमों पर संस्कृत में टीकाएँ लिखने वालों में तिलकाचार्य का नाम आता है, उन्होंने जीतकल्पवृत्ति, आवश्यकनिर्युक्तिलघुवृत्ति, दशवैकालिकटीका, श्रावकप्रतिक्रमणलघुवृत्ति, पाक्षिकसूत्रअवचूरि आदि लिखीं। इनका काल 13वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इसके चार शताब्दी पश्चात् आगमिक–व्याख्याकारों में उपाध्याय यशोविजयजी का क्रम आता है, इन्होंने अनेक आगमों पर टीकाएँ लिखी थीं, किन्तु इनके काल के बाद में आगमों पर संस्कृत में टीका या वृत्ति लिखने के स्थान पर प्रायः लोकभाषा (मरू गुर्जर) में टब्बे लिखे जाने लगे थे, अतः संस्कृत–लेखन का प्रचलन कम हो गया, फिर भी, वर्तमान युग में पूज्य घासीलालजी म.सा. ने स्थानकवासी परम्परा में मान्य 32 आगमों पर सस्कृत में टीकाएँ लिखी हैं। आचार्य महाप्रज्ञजी ने भी आचारांगभाष्य आदि कुछ भाष्य संस्कृत में लिखे हैं। आचार्य हस्तीमलजी ने दशवैकालिकसूत्र एवं नन्दीसूत्र पर संस्कृत में टीकाएँ लिखी है। अतः, आगमों पर संस्कृत में व्याख्या–साहित्य लिखने की यह परम्परा वर्तमान

युग तक भी जीवित रही है। जहाँ तक दिगम्बर–परम्परा के आगम–तुल्य ग्रन्थों का प्रश्न है, वे भी मूलतः प्राकृत–भाषा में रचित हैं– षट्खण्डागम, कसायपाहुड, मूलाचार, भगवती आराधना, तिलोयपण्णत्ति, समयसार, नियमसार, पंचास्तिकायसार, अष्टपाहुड आदि सभी मूलतः प्राकृत में निबद्ध हैं, किन्तु लगभग 9वीं शताब्दी से इन पर जो टीकाएँ है, वे या तो संस्कृत–प्राकृत मिश्रित भाषा या फिर विशुद्ध संस्कृत में ही मिलती हैं। इनमें धवला, जयधवला, महाधवल आदि प्रसिद्ध हैं, किन्तु मूलाचार, भगवती आराधना, समयसार, नियमसार, पंचास्तिकायसार आदि की टीकाएँ तो संस्कृत में ही हैं। ये सभी 9वीं शती से लेकर 15वीं शती के मध्य की हैं।

संस्कृत भाषा का जैन दार्शनिक साहित्य

यद्यपि जैन–तत्वज्ञान से संबधित विषयों का प्रतिपादन आगमों में मिलता है, किन्तु सभी आगम प्राकृत में ही निबद्ध है। तत्वज्ञान से संबधित प्रथम सूत्र–ग्रन्थ की रचना उमास्वाति ने संस्कृत–भाषा में ही की थी। उमास्वाति के काल तक विविध दार्शनिक–निकायों के सूत्र–ग्रन्थ अस्तित्व में आ चुके थे, जैसे– वैशेषिक–सूत्र, सांख्यसूत्र, योगसूत्र न्यायसूत्र आदि, अतः उमास्वाति के लिए यह आवश्यक था कि वे जैन धर्म–दर्शन से संबधित विषयों को समाहित करते हुए सूत्र–शैली में संस्कृत–भाषा में किसी ग्रन्थ की रचना करें। उमास्वाति के पश्चात् सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि ने भी जैन–दर्शन पर संस्कृत–भाषा में ग्रन्थ लिखे। सिद्धसेन दिवाकर ने भारतीय–दार्शनिक–धाराओं की अवधारणाओं की समीक्षा को लेकर कुछ द्वात्रिंशिकाओं की रचना संस्कृत–भाषा में की थी, जिनमें न्यायवतार प्रमुख है। इसी प्रकार, आचार्य समन्तभद्र ने भी आप्त–मीमांसा युक्त्यानुशासन एवं स्वयम्भूस्तोत्र नामक ग्रन्थों की रचना संस्कृत–भाषा में की। इस प्रकार, ईसा की तीसरी–चौथी शताब्दी में जैन–दार्शनिक–साहित्य संस्कृत में लिखा जाने लगा। उमास्वाति ने स्वयं ही तत्वार्थसूत्र के साथ–साथ उसका स्वोपज्ञभाष्य भी संस्कृत में लिखा था। लगभग 5 वीं शताब्दी के अन्त और 6वी शताब्दी में प्रारम्भ में दिगम्बराचार्य पूज्यपाद देवनन्दि ने तत्वार्थसूत्र पर 'सर्वार्थ–सिद्धि' नामक टीका संस्कृत में लिखी। इसके अतिरिक्त, उन्होंने जैन–साधना के सन्दर्भ में 'समाधि–तंत्र' और

'इष्टोपदेश' नामक ग्रन्थ भी संस्कृत–भाषा में लिखे। इसी कालखण्ड में श्वेताम्बर–परम्परा में मल्लवादी ने द्वादशारनयचक्र की रचना संस्कृत–भाषा में की, जिसमें प्रमुख रूप से सभी भारतीय–दार्शनिक–परम्पराएँ पूर्व–पक्ष के रूप में प्रस्तुत की गईं और उन्हीं में से उनकी विरोधी धारा को उत्तरपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर उनकी समीक्षा भी की गईं। इसके पश्चात्, 6वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य तो प्राकृत में लिखा, किन्तु उसकी स्वोपज्ञ–टीका संस्कृत में लिखी थी। उनके पश्चात् 7 वीं शती के प्रारम्भ में कोट्टाचार्य ने भी विशेषावश्यकभाष्य पर संस्कृत–भाषा में टीका लिखी थी, जो प्राचीन भारतीय–दार्शनिक–मान्यताओं का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करती है, साथ ही उनकी समीक्षा भी करती हैं। लगभग 7वीं शताब्दी में ही सिद्धसेन गणि ने श्वेताम्बर–परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र की टीका लिखी थी, द्वादशारनयचक्र की संस्कृत–भाषा में सिंहशूरगणि ने टीका भी लिखी थी। 8वीं शताब्दी में प्रसिद्ध जैनाचार्य हरिभद्रसूरि हुए, जिन्होंने प्राकृत और संस्कृत–दोनों ही भाषाओं में अपनी कलम चलाई। हरिभद्रसूरि ने जहाँ एक ओर अनेक जैनागमों पर संस्कृत में टीकाएँ लिखीं, वहीं उन्होंने अनेक दार्शनिक–ग्रन्थों का भी संस्कृत–भाषा में प्रणयन किया। उनके द्वारा रचित ये दार्शनिक–ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं– षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तवादप्रवेश, अनेकान्तप्रघट्ट, साथ ही बौद्ध–दार्शनिक दिङ्नाग के न्यायप्रवेश की संस्कृत–टीका भी लिखी। इसके अतिरिक्त, उन्होंने 'योगदृष्टिसमुच्चय' आदि ग्रन्थ भी संस्कृत–भाषा में लिखे। हरिभद्र के समकाल में या उनके कुछ पश्चात् दिगम्बर–परम्परा में आचार्य अकलंक और विद्यानन्दसूरि हुए, जिन्होंने अनेक दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की। जहाँ अकलंक ने तत्त्वार्थसूत्र पर 'राजवर्तिक' टीका के साथ–साथ न्याय–विनिश्चय, सिद्धि–विनिश्चय, प्रमाण–संग्रह, लघीयस्त्री–अष्टशती एवं प्रमाण संग्रह आदि दार्शनिक ग्रन्थों की संस्कृत में रचना की। वही विद्यानन्द ने भी तत्वार्थसूत्र पर श्लोकवार्तिकटीका के साथ–साथ आप्त–परीक्षा, प्रमाण–परीक्षा, सत्यशासन–परीक्षा, अष्टसहस्री आदि गम्भीर दार्शनिक–ग्रन्थों की संस्कृत–भाषा में रचना की। 10वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सिद्धसेन के

न्यायावतार पर श्वेताम्बराचार्य सिद्धऋषि ने विस्तृत टीका की रचना की। इसी काल में प्रभाचन्द, कुमुदचन्द्र एवं वादिराजसूरि नामक दिगम्बर आचार्यो ने क्रमशः प्रमेयकमलमार्त्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्र, न्याय–विनिश्चय टीका आदि महत्वपूर्ण दार्शनिक–ग्रन्थों की रचना की। इसके पश्चात् 11वीं शताब्दी में देवसेन ने लघुनयचक्र, बृहदनयचक्र, आलापपद्धति, माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख तथा अनन्तवीर्य ने सिद्धि–विनिश्चय टीका आदि दार्शनिक–कृतियों का सृजन किया। इसी कालखण्ड में श्वेताम्बर–परम्परा के अभयदेवसूरि ने सिद्धसेन के सन्मति–तर्क पर वाद–महार्णव नामक टीका ग्रन्थ की रचना की। इसी क्रम में दिगम्बर आचार्य अनन्तकीर्ति ने लघुसर्वज्ञसिद्धि, बृहद्सर्वज्ञसिद्धि, प्रमाणनिर्णय आदि दार्शनिक–ग्रन्थों की रचना की थी। इसी कालखण्ड में श्वेताम्बर–परम्परा में आचार्य वादिदेवसूरि हुए, उन्होंने प्रमाण–नयतत्त्वालोक तथा उसी पर स्वोपज्ञ–टीका के रूप में स्यादवाद–रत्नाकर जैसे जैन–न्याय के ग्रन्थों का निर्माण किया और उनके ही शिष्य रत्नप्रभसूरि ने रत्नाकरावतारिका की रचना की थी। इन सभी में भारतीय दर्शन एवं न्याय की अनेक मान्यताओं की समीक्षा भी है। 12वीं शताब्दी में हुए श्वेताम्बर आचार्य हेमचन्द्र ने मुख्य रूप से जैन–न्याय पर प्रमाण–मीमांसा (अपूर्ण) और दार्शनिक–समीक्षा के रूप में अन्ययोगव्यवच्छेदिका–दो महत्वपूर्ण दार्शनिक–ग्रन्थों की रचना की। यद्यपि संस्कृत–व्याकरण एवं साहित्य के क्षेत्र में उनका अवदान प्रचुर है, तथापि हमने यहाँ उनके दार्शनिक–ग्रन्थों की ही चर्चा की है। यद्यपि 13वीं, 14वीं, 15वीं और 16वीं शताब्दी में भी जैन आचार्यों ने संस्कृत–भाषा में कुछ दार्शनिक–ग्रन्थों की रचना की थी, किन्तु वे ग्रन्थ अधिक महत्वपूर्ण न होने से हम यहाँ उनकी चर्चा नही कर रहे हैं, यद्यपि इस कालखण्ड में कुछ दार्शनिक–ग्रन्थों की टीकाएँ, जैसे अन्ययोगव्यवछेदिका की स्याद्वाद–मन्जरी नामक टीका, षडदर्शनसमुच्चय की टीका आदि भी लिखी गई थीं, किन्तु विस्तारभय से उन सबमें जाना उचित नही हैं। 17 वीं शताब्दी में श्वेताम्बर–परम्परा में उपाध्याय यशोविजय नामक एक प्रसिद्ध जैन लेखक हुए, जिनके अध्यात्मसार, ज्ञानसार आदि दर्शन के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में अध्यात्ममतसमीक्षा, अध्यात्मसार, ज्ञानसार

आदि तथा दर्शन के क्षेत्र में जैन तर्कभाषा, नयोपदेश, नयसहस्र, न्यायालोक, स्यादवाद–कल्पलंता आदि उनके अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उनके पश्चात्, 18वीं, 19वीं और 20वीं शताब्दी में जैन–दर्शन पर संस्कृत–भाषा में कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा गया हो, यह हमारी जानकारी में नही है, यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र की शैली पर आचार्य तुलसी के जैन–सिद्धान्त–दीपिका और मनानुशासनम् नामक ग्रन्थों की संस्कृत–भाषा में रचना की है, फिर भी इस कालखण्ड में संस्कृत–भाषा में दार्शनिक–ग्रन्थों के लेखन की प्रवृत्ति नहीवत् ही रही है।

संस्कृत के जैन–चरित–काव्य एवं महाकाव्य

महापुरुषों की जीवन–गाथाओं के आधार पर जैन–धर्म की श्वेताम्बर एवं दिगम्बर–परम्पराओं में अनेक संस्कृत–ग्रन्थों की रचना हुई है। महापुराण (आदिपुराण और उत्तरपुराण) तथा हेमचन्द्र का त्रिशष्टि–शलाका महापुराण चरित्र तो प्रसिद्ध है ही। इसके अतिरिक्त भी, महापुरुषों पर अनेक पुराण और चरितकाव्य भी रचे गये, जैसे– पद्मानन्द–महाकाव्य, अजितनाथपुराण, चन्द्रप्रभचरित, श्रेयांसनाथचरित, वासुपूज्यचरित, विमलनाथचरित, शान्तिनाथपुराण, शान्तिनाथचरित, मल्लिनाथचरित, मुनिसुव्रतचरित, नेमिनाथमहाकाव्य, नेमिनाथचरित, पार्श्वनाथचरित, महावीरचरित, वर्द्धमानचरित, अममस्वामिचरित, प्रत्येकबुद्धचरित, केवलिचरित, श्रेणिकचरित्र, महावीरकालीन श्रेणिक के परिवार के सदस्यों एवं अन्य पात्रों के चरित, प्रभावक आचार्यों के चरित, खरतरगच्छीय–आचार्यों के जीवनचरित्र, कुमारपालचरित्र, वस्तुपाल–तेजपालचरित, विमलमंत्रिचरित, जगडूचरित, सुकृतसागर, पृथ्वीधरप्रबंध, चावडप्रबंध, कर्मवंशोत्कीर्त्तनकाव्य, क्षेमसौभाग्यकाव्य आदि। इनके अतिरिक्त, प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव, बारह चक्रवर्त्तियों एवं अन्य शलाका–पुरुषों पर भी संस्कृत में अनेक रचनाएँ जैनाचार्यों ने लिखी हैं। इसके अतिरिक्त, निम्न काव्य और महाकाव्य भी जैनाचार्यों द्वारा रचित हैं जैसे– प्रद्युम्नचरितकाव्य, नेमिनिर्वाणमहाकाव्य, चन्द्रप्रभचरितमहाकाव्य, वर्द्धमानचरित, धर्मशर्माभ्युदय, सनत्कुमारचरित, जयन्तविजय, नरनारायणानन्द, मुनिसुव्रतकाव्य, श्रेणिकचरित, शान्तिनाथचरित, जयोदय महाकाव्य, बालभारत लघुकाव्य, श्रीधरचरितमहाकाव्य,

जैनकुमारसंभव, कादम्बरीमण्डन, चन्द्रविजयप्रबंध, काव्यमण्डन आदि।

संस्कृत भाषा में निबद्ध जैन कथा साहित्य के ग्रन्थ

जैन–आचार्यों ने धार्मिक एवं नैतिक–आचार–नियमों एवं उपदेशों को लेकर अनेक कथाओं एवं कथा–ग्रन्थों की रचना की है। पूर्वाचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों की टीका, वृत्ति आदि में उन कथाओं को समाहित किया है। इनमें धर्मकथानुयोग की स्वतंत्र रचनाएँ, पुरुषपात्र प्रधान बृहद्–कथाएँ, पुरुषपात्रप्रधान लघु कथाएँ, स्त्रीपात्रप्रधान रचनाएँ, तीर्थमाहात्म्य–विषयक कथाएँ, तिथि–पर्व–पूजा एवं स्तोत्रविषयक कथाएँ, व्रत–पर्व एवं पूजा विषयक कथाएँ, परीक्कथाएँ, मुग्धकथाएँ, नीतिकथाएँ, आचार–नियमों के पालन एवं स्पष्टीकरण–सम्बन्धी कथाएँ आदि, इन कथाओं एवं कथा–ग्रन्थों की संख्या इतनी है कि यदि इनके नाम मात्र का उल्लेख किया जाये, तो भी एक स्वतंत्र ग्रन्थ बन जायेगा।

ऐतिहासिक महाकाव्य एवं अन्य कथाएँ

पौराणिक–काव्यों एवं कथा–साहित्य के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने संस्कृत में ऐतिहासिक–कथा–ग्रन्थों की रचना भी की है, जो निम्नांकित है– गुणवचनद्वात्रिंशिका, द्वयाश्रयमहाकाव्य, वस्तुपाल–तेजपाल की कीर्त्तिकथा– सम्बन्धी साहित्य, सुकृतसंकीर्तन, वसन्तविलास, कुमारपालभूपालचरित, वस्तुपालचरित, जगडूचरित, सुकृतसागर, पेथडचरित आदि।

इसके साथ ही, ऐतिहासिक–संस्कृत–ग्रन्थों के अर्न्तगत जैनाचार्यों ने निम्न प्रबन्ध साहित्य की भी रचना की है– प्रबंधावलि, प्रभावकचरित, प्रबंधचिन्तामणि, विविधतीर्थकल्प, प्रबंधकोश, पुरातनप्रबन्धसंग्रह आदि इन प्रबंन्धों के साथ ही कुछ प्रशस्तियाँ भी संस्कृत–भाषा में मिलती हैं, वे निम्न हैं– वस्तुपाल और तेजपाल के सुकृतों की स्मारक–प्रशस्तियाँ, सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी, वस्तुपाल–तेजपालप्रशस्ति, वस्तुपाल–प्रशस्ति, अममस्वामीचरित की प्रशस्ति आदि।

इन प्रशस्तियों के अतिरिक्त कुछ पट्टावली और गुर्वावलि भी संस्कृत में मिलती हैं, यथा– विचारश्रेणी या स्थविरावली, गणधरसार्द्धशतक,

खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि, वृद्धाचार्य प्रबंधावलि, खरतरगच्छ पट्टावलीसंग्रह, गुर्वावलि, गुर्वावलि या तपागच्छ पट्टावलीसूत्र, सेनपट्टावली, बलात्कारगण की पट्टावलियाँ, काष्ठासंघ माथुरगच्छ की पट्टावली, काष्ठासंघ लाडबागडगच्छ पुन्नाटगच्छ की पट्टावली आदि। इनके अतिरिक्त, कुछ तीर्थमालाएँ और विज्ञप्तिपत्र भी संस्कृत में लिखित हैं, जिनमें अनेक ऐतिहासिक–तथ्य समाहित हैं, साथ ही अनेक प्रतिमा या मूर्त्ति लेख भी संस्कृत में मिलते हैं।

अनेकार्थकसंधानकाव्य भी जैनाचार्यो के द्वारा संस्कृत में लिखित हैं, यथा– द्विसन्धानमहाकाव्य, सप्तसंधानकाव्य आदि। इनके अतिरिक्त, समयसुन्दरगणि (17 वीं शती) ने एक ही पद 'राजानोददते सौख्यम्' के आठ लाख अर्थ करते हुए अष्टलक्षी नामक ग्रन्थ संस्कृत–भाषा में लिखा था। संस्कृत की गद्यकाव्य–शैली एवं चम्पूकाव्य–शैली में जैनाचार्यों के निम्न ग्रन्थ मिलते हैं– तिलकमंजरी, तिलकमंजरीकथासार, गद्यचिन्तामणि आदि। चम्पूकाव्यों में कुवलयमाला, यशस्तिलकचम्पू, जीवनधरचम्पू, पुरूदेवचम्पू, चम्पूमण्डन आदि ग्रन्थ जैनाचार्यों द्वारा रचित हैं, गीतिकाव्य, रसमुक्तक गीतिकाव्य, दूतकाव्य या सन्देशकाव्य (खण्डकाव्य) जैनाचार्यों ने लिखे हैं, यथा पार्श्वाभ्युदय नेमिदूत, जैनमेघदूत, शीलदूत, पवनदूत आदि अनेक दूतकाव्य। इसके अतिरिक्त, जैनाचार्यों ने संस्कृत में पादपूर्ति साहित्य भी लिखा है। इसमें अनेक ग्रन्थ मेघदूत की पादपूर्ति के रूप में लिखे गये, साथ ही, जैनाचार्यों ने कुछ सुभाषितों और अनेक स्तोत्र भी संस्कृत–भाषा में लिखे हैं। उनके स्तोत्र–साहित्य को अनेक संग्रह ग्रन्थों में समाहित किया गया है। ये स्तुति–स्तोत्र सहस्रों की संख्या में हैं।

साथ ही, दृश्यकाव्य के रूप में अनेक नाटकों की रचना भी रामचन्द्र आदि जैनाचार्यो ने की है, जैसे– सत्यहरिशचन्द्र, नलविलास, मल्लिकामकरन्द, कौमुदीमित्राणन्द, रघुविलास, निर्भयभीमव्यायोग, सेहिणीमृगांक, राघवाभ्युदय, यादवाभ्युदय, वनमाला, चन्द्रलेखाविजयप्रकरण, प्रबद्धरौहिणेय, द्रौपदीस्वयंवर, मोहराजपराजय, मुद्रितकुमुदचन्द्र, धर्माभ्युदय, क्षमामृत, हम्मीरमदमर्दन, करूणावज्रायुध, अंजनापवनंजय, सुभद्रानाटिका, विक्रान्तकौरव, मैथिलीकल्याण, ज्योतिष्प्रभानाटक, रम्भामंजरी, ज्ञानचन्द्रोदय, ज्ञानसूर्योदय आदि। आगमिक–व्याख्याओं दर्शन, काव्य, नाटक, दूतकाव्य

एवं कथा–साहित्य के अतिरिक्त भी विविध विषयों पर भी जैनाचार्यों एवं जैन–लेखकों ने संस्कृत में ग्रन्थ लिखे हैं। जैन–साहित्य के बृहद् इतिहास भाग पाँच में उनकी सूची उपलब्ध है। उस आधार पर हम यहाँ मात्र उनका नाम–निर्देश कर रहे हैं।

संस्कृत एवं प्राकृत के व्याकरण सम्बन्धी जैनाचार्यों के संस्कृत ग्रन्थ

भाषा का प्राण व्याकरण है, अतः जैन–आचार्यों ने प्राकृत एवं संस्कृत–भाषा के व्याकरण–सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की। उनके इन व्याकरण–सम्बन्धी ग्रन्थों का माध्यम संस्कृत भाषा रही। उनके व्याकरण–सम्बन्धी–ग्रन्थों की सूची अति विस्तृत है, जो निम्नानुसार है– ऐन्द्रव्याकरण, शब्दप्राभृत, क्षपणक–व्याकरण, जैनेन्द्र–व्याकरण, जैनेन्द्रन्यास, जैनेन्द्रभाष्य और शब्दावतारन्यास, महावृत्ति, शब्दांभोजभास्करन्यास, पचंवस्तु, लघुजैनेन्द्र, शब्दार्णव, शब्दार्णवचंद्रिका, शब्दार्णवप्रक्रिया, भगवद्वाग्वादिनी, जैनेन्द्रव्याकरण वृत्ति, अनिट्कारिकावचूरि, शाकटायन–व्याकरण, पाल्यकीर्ति शाकटायन के व्याकरण–सम्बन्धी अन्य ग्रन्थ, अमोघवृत्ति आदि चिंतामणिशाकटायनव्याकरणवृत्ति, मणिप्रकाशिका, प्रक्रियासंग्रह, शाकटायन–टीका, रूपसिद्धि, गणरत्नमहोदधि, लिंगानुशासन, धातुपाठ, पंचग्रंथी या बुद्धिसागर व्याकरण, दीपकव्याकरण, शब्दानुशासन, शब्दार्णव्याकरण, शब्दार्णव वृत्ति, विद्यानंदव्याकरण, नूतनव्याकरण, प्रेमलाभव्याकरण, शब्दभूषणव्याकरण, प्रयोगमुखव्याकरण, सिद्धहेमचंद्रशब्दानुशासन, उसकी स्वोपज्ञलघुवृत्ति, स्वोपज्ञमध्यमवृत्ति, रहस्यवृत्ति, बृहदवृत्ति, बृहन्यास, न्यासारसमुद्धार, लघुन्यास, न्याससारोद्धार–टिप्पण, हैमढुंढिका, अष्टाध्यायतृतीयपदवृत्ति, हैमलघुवृत्ति–अवचूरि, चतुष्कवृत्ति–अवचूरि, लघुवृत्ति–अवचूरि, हैमलघुवृत्तिढुंढिका, लघुव्याख्यानढुंढिका, ढुंढिका दीपिका, बृहदवृत्ति सारोद्धार, बृहदवृत्ति–अवचूर्णिका, बृहदवृत्तिढुंढिका, बृहद्वृत्तिदीपिका, कक्षापटवृत्ति, बृहदवृत्तिटिप्पण, हैमोदाहरणवृत्ति, हैमदशपादविशेष और हैमदशपादविशेषार्थ, बलाबलसूत्रवृत्ति, क्रियारत्नसमुच्चय, न्यायसंग्रह, स्यादिशब्दसमुच्चय, स्यादिव्याकरण, स्यादिशब्ददीपिका, हेमविभ्रमटीका, कविकल्पद्रुमटीका, तिङन्वयोंक्ति, हैमधातुपारायण, हैमधातुपारायणवृत्ति, हेमलिंगानुशासनवृत्ति,

दुर्गमपदप्रबोधवृत्ति, हेमलिंगानुशासन–अवचूरि, गणपाठ, गणविवेक, गणदर्पण, प्रक्रियाग्रन्थ, हैंमलघुप्रक्रिया, हैमबृहत्प्रक्रिया, हैमप्रकाश, चंद्रप्रभा, हेमशब्द–प्रक्रिया, हेमशब्दचंन्द्रिका, हैमप्रक्रिया, हैमप्रक्रियाशब्दसमुच्चय, हेमशब्दसमुच्चय, हेमशब्दसचंय, हैमकारकसमुच्चय, सिद्धसारस्वत व्याकरण, उपसर्गमडंन, धातुमंज्जरी, मिश्रलिंगकोश, मिश्रलिंगनिर्णय, लिंगानुशासन, उणादिप्रत्यय, विभक्तिविचार, धातुरत्नाकर, धातुरत्नाकरवृत्ति क्रियाकलाप, अनिट्कारिका, अनिट्कारिकाटीका, अनिट्कारिका विवरण, उणादिनाममाला, समासप्रकरण, षट्कारकविवरण, शब्दार्थचंद्रिकोद्धार, रूचादिगणविवरण, उणादिगणसूत्र, उणादिगणसूत्रवृत्ति, विश्रांतविद्याधरन्यास, पदव्यवस्थाकारिकाटीका, कातंत्रव्याकरण, दुर्गमपदप्रबोधटीका, दौर्गसिहीवृत्ति, कातंत्रोत्तरव्याकरण, कातंत्रविस्तर, बालबोधव्याकरण, कातंत्रदीपकवृत्ति, कातंत्रभूषण, वृत्तित्रयनिब्रंध, कातंत्रवृत्ति–पंजिका, कातंत्ररूपमाला, लघुवृत्ति, कातंत्रविभ्रमटीका, सारस्वतव्याक़रण, सारस्वतमंडन, यशोनंदिनी, विद्वचिंतामणि, दीपिका, सारस्वतरूपमाला, क्रियाचंद्रिका, रूपरत्नमाला, धातुपाठ, धातुतरंगिणीवृत्ति, सुबोधिका, प्रक्रियावृत्तिटीका, चंद्रिका, पंचसंधि–बालावबोध, भाषाटीका, न्यायरत्नावली, पंचसंधिटीका, शब्दप्रक्रियासाधनी, सरलाभाषाटीका, सिद्धांतचंद्रिका–व्याकरण, सिद्धांतचंद्रिकाटीका, सुबोधिनीवृत्ति, अनिट्कारिका–अवचूरि, अनिट्कारिका एवं उसकी स्वोपज्ञवृत्ति, भूधातुवृत्ति, मुग्धावबोधवौक्तिक, बालशिक्षा, वाक्यप्रकाश, उक्तिरत्नाकर, उक्तिप्रत्यय, उक्तिव्याकरण, प्राकृत व्याकरण, प्राकृतलक्षण, प्राकृतलक्षणवृत्ति, स्वयंभूव्याकरण, सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन प्राकृतव्याकरण, सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन (प्राकृतव्याकरण)वृत्ति, हैमदीपिका, दीपिका, प्राकृतदीपिका, हैमप्राकृतढुंढिका, प्राकृतप्रबोध, प्राकृतव्याकृति, दोधकवृत्ति, हैमदोधकार्थ, प्राकृतशब्दानुशासन, प्राकृतशब्दानुशासन वृत्ति, प्राकृत पद्यव्याकरण, औदार्यचिंतामणि, अर्द्धमागधी व्याकरण आदि।

संस्कृत–कोश–साहित्य–सम्बन्धी जैनाचार्यों की कृतियाँ–

व्याकरण के पश्चात् कोश–साहित्य का क्रम आता है, जैनाचार्यों की कोश सम्बन्धी कृतियाँ निम्न हैं– धनंजयनाममाला, धनंजयनाममालाभाष्य, निघंटसमय, अनेकार्थनाममाला, अनेकार्थनाममालाटीका, अभिधानचिंता–

मणिनाममाला, अभिधानचिंतामणिवृत्ति, अभिधानचिंतामणिटीका, अभिधानचिंता मणिसारोद्धार, अभिधानचिंतामणि व्युत्पत्तिरत्नाकर, अभिधानचिंतामणिअवचूरि, अभिधानचिंतामणि रत्नप्रभा, अभिधानचिंतामणि–बीजक, अभिधानचिंता मणिनाममाला–प्रतीकावली, अनेकार्थसंग्रह, अनेकार्थसंग्रहटीका, निघंटुशेष, निघटुशेषटीका, देशीशब्दसंग्रह, शिलोच्छकोश, शिलोच्छकोशटीका, नामकोश, शब्दचंद्रिका, सुंदरप्रकाश शब्दार्णव, शब्दभेदनाममाला, शब्दभेदनाममालावृत्ति, नामसंग्रह, शारदीयनाममाला, शब्दरत्नाकर, अव्ययैकाक्षरनाममाला, शेषनाममाला, शब्दसंदोहसंग्रह, शब्दरत्नप्रदीप, विश्रवलोचनकोश, नानार्थकोश, पंचवर्गसंग्रहनाममाला, अपवर्गनाममाला, एकाक्षरी नानार्थकांड, एकाक्षरीनाममालिका, एकाक्षरकोश, एकाक्षरनाममाला आदि। इस प्रकार, जैनाचार्यों ने अनेक कोश ग्रन्थों की भी रचना की है।

जैनाचार्यों की ज्योतिष–सम्बन्धी संस्कृत–कृतियाँ

जैन–संस्कृत–साहित्य में ज्योतिष–सम्बन्धी साहित्य का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा हुआ है, प्राचीन जैन–आगमों में सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और गणिविज्जा में प्रारम्भिक–जैन–ज्योतिष की चर्चा रही हुई है। इसके अतिरिक्त, अंगविज्जा भी फलित–ज्योतिष की कुछ चर्चा करती है, किन्तु ये सभी ग्रन्थ प्राकृत में हैं। संस्कृत में रचित परवर्तीकालीन ज्योतिष–सम्बन्धी ग्रन्थ निम्न हैं–

लग्नविचार	प्रश्नसुन्दरी
ज्योतिषप्रकाश	वर्षप्रबोध
चतुर्विंशिकोद्धार	उस्तरलावयंत्र
चतुर्विंशिकोद्धार अवचूरि	उस्तरलावयंत्र टीका
ज्योतिषसारसंग्रह	दोषरत्नावली
जन्मपत्रीपद्धति	जातकदीपिकापद्धति
(हर्षकीर्त्तिसूरि)	जन्मप्रदीपशास्त्र
जन्मपत्रीपद्धति (मुनि महमोदय)	केवलज्ञानहोरा
मानसागरीपद्धति	यन्त्रराज
फलाफलविषयक–प्रश्नपत्र	यन्त्रराज टीका
उदयदीपिका	ज्योतिषरत्नाकर

पंचाङग्नयनविधि
तिथिसारणी
यशोराजीपद्धति
त्रैलोक्यप्रकाश
जेइसहीर
ज्योतस्सार
पंचाङ्.तत्व
पंचाङ्.तत्व टीका
पंचांगतिथिविवरण
पंचाङ्.दीपिका
पंचांगपत्रविचार
बलिरामानन्दसारसंग्रह
गणसारणी
लालचन्द्रीपद्धति
टिप्पनकाविधि
होरामकरन्द
विवाहपटल
कराराज
दीक्षा–प्रतिष्ठाशुद्धि
विवाहरत्न
ज्योतिप्रकाश
खेटचूला
षष्टिसंवत्सरफल
लघुजातक–टीका
जातकपद्धति–टीका
ताजिकसार–टीका
करणकुतूहल–टीका
ज्योतिविदाभरण–टीका
महादेवीसारिणी–टीका
विवाहपटल–बालावबोध
ग्रहलाघव–टीका
चन्द्रार्की–टीका
षट्पच्चाशिका–टीका
भुवनदीप–टीका
चमत्कारचिन्तामणि–टीका
होरामकरन्द–टीका
वसन्तराजशाकुन–टीका
शकुनरहस्य
शकुनशास्त्र
शकुनरत्नावली–कथाकोश
शकुनावलि
शकुनद्वार
शकुनविचार

जैन दार्शनिक साहित्य–

जहाँ तक जैन–धर्म के दार्शनिक–साहित्य का प्रश्न है, उसे मुख्य रूप से तीन भागों में बाटा गया है – (1) प्राकृत भाषा का जैन–दार्शनिक–साहित्य (2) संस्कृत–भाषा का जैन–दार्शनिक–साहित्य और (3) आधुनिक युग का जैन–दार्शनिक–साहित्य।

प्राकृत–भाषा का जैन दार्शनिक साहित्य

जैन–धर्म का आधार आगम–ग्रन्थ हैं। आगम–साहित्य के सभी ग्रन्थ तो दार्शनिक साहित्य से सबंधित नहीं माने जा सकते हैं, किन्तु आगमों में कुछ ग्रन्थ अवश्य ही ऐसे हैं, जिन्हें हम दार्शनिक–साहित्य के अन्तर्गत ले सकते हैं। दार्शनिक–साहित्य के तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और आचारमीमांसा– ये तीन प्रमुख अंग होते हैं। तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत सृष्टि–विज्ञान एवं खगोल–भूगोल–संबंधी कुछ चर्चा भी आ जाती है। इस दृष्टि से यदि हम प्राकृत–जैन–साहित्य और उसमें भी विशेष रूप से आगमिक साहित्य की चर्चा करें, तो उसमें निम्न आगमिक–ग्रन्थों का समावेश हो जाता है। हम उन्हें तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं आचारमीमांसा की दृष्टि से ही वर्गीकृत करने का प्रयत्न करेगे। जहाँ तक तत्त्वमीमांसीय–आगम–साहित्य का प्रश्न है, उसके अन्तर्गत प्रथम ग्रन्थ सूत्रकृतांग ही आता है। यद्यपि सूत्रकृतांग में जैन–आचार–संबंधी कुछ दार्शनिक–विषयों की चर्चा है, किन्तु फिर भी प्राथमिक–दृष्टि से उसका प्रतिपाद्य विषय उस युग की विभिन्न दार्शनिक–मान्यताओं की समीक्षा रहा है। इस आधार पर हम उसे प्राकृत एवं जैन–आगम–साहित्य का एक महत्वपूर्ण दार्शनिक–ग्रन्थ कह सकते हैं। जहाँ तक प्रथम अंग–आगम आचारांग का प्रश्न है, वह मुख्यतः दार्शनिक–मान्यताओं के साथ–साथ जैन–साधना के मूलभूत दार्शनिक–सूत्रों को प्रस्तुत करता है। इसमें आत्मा के अस्तित्व एवं षट्जीवनिकाय के साथ किन–किन तत्त्वों का अस्तित्व मानना चाहिए – इसकी चर्चा है, किन्तु इसके साथ ही उसमें जैन आचार और विशेष रूप से मुनि–आचार की विस्तृत विवेचना है। आचारांग और सूत्रकृतांग के अतिरिक्त अंगआगमों में तीसरे और चौथे अंगआगम स्थानांग और समवायांग का क्रम आता है। ये दोनों ग्रन्थ संख्या के आधार पर निर्मित जैन–विद्या के कोषग्रन्थ कहे जा सकते हैं। इनमें विविध विषयों का सकंलन है। यह सत्य है कि इनमें कुछ दार्शनिक विषय भी समाहित किये गये हैं, किन्तु ये दोनों ग्रन्थ दार्शनिक–विषयों के अतिरिक्त जैन सृष्टिविद्या, नक्षत्रविद्या एवं खगोल–भूगोल आदि से भी सम्बन्धित हैं। पांचवें अंग–आगम के रूप में भगवतीसूत्र का क्रम आता है। निश्चिय ही, यह ग्रन्थ जैन–दार्शनिक–

मान्यताओं और विशेष रूप से तत्त्वमीमांसीय–अवधारणाओं का आधारभूत ग्रन्थ है। अंगआगमों में भगवतीसूत्र के पश्चात् ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृत्दशा, प्रश्नव्याकरणसूत्र और विपाकदशा का क्रम आता है। सामान्यतया देखने पर ये सभी ग्रन्थ जैन–साधकों के जीवनवृत्त और उनकी साधनाओं को ही प्रस्तुत करते हैं, फिर भी उपासकदशा में श्रावक के आचार–नियमों का विस्तृत विवेचन उपलब्ध हो जाता है। इसी प्रकार, प्रश्नव्याकरणसूत्र की वर्तमान विषय–वस्तु पांच आश्रवद्वारों और संवरद्वारों की चर्चा करती है, जो जैन आचारशास्त्र की मूलभूत सैद्धांतिक–अवधारणा से सम्बन्धित है। अन्य दृष्टि से आश्रव और संवर जैन–तत्त्व–योजना के प्रमुख अंग हैं। इसी दृष्टि से इस अंग का संबंध भी जैन–तत्त्वमीमांसा से जोड़ा जा सकता है। विपाकसूत्र के अन्तर्गत दो विभाग हैं – सुख–विपाक और दुःख–विपाक। यह ग्रन्थ यद्यपि कथारूप ही है, फिर भी इसमें व्यक्ति के कर्म के परिणामों का चिन्तन होने से इसे एक दृष्टि से जैन–दार्शनिक–साहित्य से सबंधित माना जा सकता है।

जहाँ तक उपांग–साहित्य का प्रश्न है, उसके अन्तर्गत 12 ग्रन्थ आते हैं, इनमें औपपातिकसूत्र और राजप्रश्नीयसूत्र– ये दो ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें क्रमशः सन्यासियों की साधना के विभिन्न रूपों का एवं आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है, अतः ये दोनों ग्रन्थ आंशिक रूप से जैन–दार्शनिक परम्परा से सबंधित माने जा सकते हैं। सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–ये तीन ग्रन्थ मुख्य रूप से जैन–खगोल और भूगोल से संबंधित हैं, उपांग–साहित्य के शेष पांचों ग्रन्थ मूलतः कथात्मक ही हैं। इनके पश्चात् छेदसूत्रों का क्रम आता है। मूर्तिपूजक परम्परा छः छेद–ग्रन्थों को मानती है, जबकि स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा में छेदसूत्रों की संख्या चार मानी गयी है। स्थानकवासी–परम्परा के अनुसार, दशाश्रुतस्कंध, बृहद्कल्प, व्यवहार और निषीथ ये चार छेद ग्रन्थ हैं, जो मूर्तिपूजक परम्परा को भी मान्य हैं। इन चारों का संबंध विशेष रूप से प्रायश्चित्य और दण्ड–व्यवस्था से है। श्वेताम्बर–मूर्तिपूजक परम्परा को मान्य जीतकल्प और महानिषीथ– ये दोनों ग्रन्थ भी मूलतः तो प्रायश्चित्य और दण्डव्यवस्था से संबधित ही रहे

हैं, अतः इन्हें किसी सीमा तक जैन आचारमीमांसा के साथ जोड़ा जा सकता है। मूलसूत्र और चूलिकासूत्रों में भी कुल मिलाकर छह या सात ग्रन्थों का समावेश होता है। इनमें उत्तराध्ययनसूत्र एक प्रमुख ग्रन्थ है, जो मुख्य रूप से जैन साधना और आचार–व्यवस्था से सम्बन्धित है, किन्तु इसके 28 वें और 36 वें अध्याय में जैन–तत्त्वमीमांसा की चर्चा देखी जा सकती है। दशवैकालिकसूत्र मुख्यतः जैन–मुनि–जीवन की आचार व्यवस्था से संबंधित है। इसके अतिरिक्त, श्वेताम्बर–मूर्तिपूजक–परम्परा के अनुसार मूल–ग्रन्थों में उत्तराध्ययन, दशवैकालिक एवं आवश्यक के अतिरिक्त, ओघनिर्युक्ति और पिण्डनिर्युक्ति को भी समाहित माना जाता है। ये दोनों ग्रन्थ जैन–मुनि के सामान्य आचार और भिक्षाविधि से सम्बन्धित हैं, अतः किसी सीमा तक इनको भी जैन–आचार–मीमांसा के अंग माना जा सकता है। स्थानकवासी–परम्परा में मूल एवं मूर्तिपूजक–परम्परा में चूलिकासूत्र के नाम से प्रसिद्ध नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार माने जाते हैं। इनमें नन्दीसूत्र मूलतः पांच ज्ञानों की विवेचना करता है, अतः इसे जैन–ज्ञानमीमांसा के दार्शनिक–ग्रन्थों के अन्तर्गत रखा जा सकता है, यद्यपि नन्दीसूत्र में जैन–इतिहास के भी कुछ अर्द्ध खुले तथ्य भी समाहित हैं। अनुयोगद्वारसूत्र को जैन–दार्शनिक मान्यताओं को समझने की विश्लेषणात्मक–विधि कहा जा सकता है। जैन–दार्शनिक प्रश्नों को समझने के लिए अनेकांत–नय और निक्षेप की अवधारणाएँ तो प्रमुख हैं ही, इसके अतिरिक्त अनुयोगद्वारों की व्यवस्था भी महत्वपूर्ण रही है। जैनदर्शन का निक्षेप का सिद्धान्त यह बताता है कि किसी शब्द के अर्थ का घटन किस प्रकार, से किया जा सकता है। उसी प्रकार नय का सिद्धान्त वाक्य या कथन के अर्थ–घटन की प्रक्रिया को समझाता है। अनुयोगद्वार, किस विषय की किस–किस दृष्टि से विवेचना की जा सकती है, इसे स्पष्ट करता है, अतः यह जैन–दार्शनिक–साहित्य का एक प्रमुख ग्रन्थ माना जा सकता है। जहाँ तक आवश्यकसूत्र का प्रश्न है, वह मूलतः जैन–साधना का ग्रन्थ है। इस प्रकार जैन आगमिक साहित्य में मुख्य रूप से दार्शनिक–विषयों को इस तरह से प्रस्तुत किया गया है कि वे जैन–धर्म की साधना–विधि के साथ भी जुड़ सकें। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक–परम्परा

आगमों के अन्तर्गत प्रकीर्णक–साहित्य को भी मानती है। प्रकीर्णकों का मुख्य विषय दार्शनिक–विवेचना न होकर साधना–संबंधी विवेचना है, फिर भी वे सभी प्रायः जैन–साधना एवं आचार से संबंधित माने जा सकते हैं, क्योंकि लगभग 6–7 प्रकीर्णकों का विषय तो समाधिमरण की साधना है।

जैन–प्राकृत–साहित्य के अन्तर्गत श्वेताम्बर–परम्परा द्वारा मान्य आगमों के अतिरिक्त दिगम्बर–परम्परा के आगम–तुल्य अनेक ग्रन्थ भी आते हैं। इन ग्रन्थों की विशेषता यह है कि ये सभी ग्रन्थ मूलतः जैन–दार्शनिक–साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग हैं। इनमें, सर्वप्रथम कसायपाहुड और षट्खण्डागम का क्रम आता है। जहाँ कसायपाहुड जैन–कर्मसिद्धान्त के कर्मबन्ध के स्वरूप को स्पष्ट करता है, तो वही षट्खण्डागम जैन–कर्मसिद्धान्त की मार्गणास्थान, गुणस्थान एवं जीवस्थान–सम्बन्धी अवधारणाओं की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत करता है। इनके अतिरिक्त, मूलाचार नामक जो प्राचीन ग्रन्थ है, वह भी मुख्य रूप से जैन–आचार और विशेष रूप से मुनि आचार की विवेचना करता है। भगवतीआराधना में भी मुख्य रूप से जैन साधना और विशेष रूप से समाधिमरण की साधना का विवेचन है। इसके अतिरिक्त, जैन–दर्शन–साहित्य के रूप में कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकायसार और अष्टप्राभृत, दशभक्ति आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं। इनमें समयसार में मुख्य रूप से तो आत्मतत्त्व के स्वरूप की विवेचना है, किन्तु प्रासंगिक रूप से आत्मा के कम–आश्रव–बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष की चर्चा भी इसमें मिल जाती है। इस दृष्टि से इसे जैन–तत्त्वमीमांसा का मुख्य ग्रन्थ माना जाता है। इसी प्रकार, उनका पंचास्तिकाय नामक ग्रन्थ भी पाँच अस्तिकायों की चर्चा करने के कारण जैन–तत्त्वमीमांसा का एक प्रमुख ग्रन्थ माना गया है। प्रवचनसार, नियमसार, रयनसार, अष्टप्राभृत आदि का संबंध जैन–साधना से रहा हुआ है, अतः ये ग्रन्थ भी किसी सीमा तक जैन–तत्त्वमीमांसा और आचारमीमांसा से सबंधित रहे है। दिगम्बर–परम्परा के प्राकृत के अन्य प्रमुख ग्रन्थों में गोमट्टसार विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ का मुख्य सबन्ध तो जैन कर्म सिद्धान्त से है। इसके अतिरिक्त, दिगम्बर–परम्परा में कुछ अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ भी जैन दार्शनिक–ग्रन्थों में समाहित किये जा

सकते हैं, जैसे– परमात्मप्रकाश आदि। दिगम्बर–परम्परा में कुछ पुराण भी अपभ्रंश भाषा में मिलते हैं, इनमें भी जैन–तत्त्वमीमांसा और जैन आचारमीमांसा से सम्बन्धित विषय विपुल मात्रा में उपलब्ध हैं। यद्यपि यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैनों का ज्ञानमीमांसा–सम्बन्धी विपुल साहित्य संस्कृत भाषा में ही उपलब्ध है।

प्राकृत आगमिक–व्याख्या–साहित्य में मुख्य रूप से सूत्रकृतांग निर्युक्ति में भी तत्कालीन दार्शनिक–मान्यताओं की समीक्षा ही परिलक्षित होती है। निर्युक्ति–साहित्य का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ उत्तराध्ययन निर्युक्ति है, जिसमें जैन–तत्त्वमीमांसा और आचारमीमांसा की कुछ चर्चा ही परिलक्षित होती है। इसके पश्चात्, शेष निर्युक्तियां मुख्यतया जैन–आचार की ही चर्चा करती हैं। निर्युक्तियों में आवश्यक निर्युक्ति अवश्य ही एक बृहद्काय ग्रन्थ है, इसमें जैन–दर्शन एवं जैन–आचार–पद्धति की चर्चा उपलब्ध होती है। शेष निर्युक्तियाँ भी प्रायश्चित् एवं जैन–साधना–विधि की चर्चा करती हैं।

निर्युक्ति साहित्य के पश्चात् भाष्य साहित्य का क्रम आता है। इसमें मुख्य रूप से विशेषावश्यकभाष्य ही ऐसा ग्रन्थ है, जो दार्शनिक चर्चाओं से युक्त है। इसके प्रथम खण्ड में जैन ज्ञानमीमांसा और विशेष रूप से पाँच ज्ञानों उनके उपप्रकारों और पारस्परिक सहसंबंधों की चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त, इसके गणधरवाद वाले खण्ड में आत्मा के अस्तित्व के साथ–साथ जैनकर्मसिद्धान्त की गम्भीर चर्चा है। प्रथमतया, यह खण्ड गणधरों के संदेहों और उनके उत्तरों की व्याख्या प्रस्तुत करता है, उसमें स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म, कर्म और कर्मफल आदि की गम्भीर चर्चा है। भाष्यसाहित्य के शेष ग्रन्थों में मुख्य रूप से जैन–आचार, प्रायश्चित्–व्यवस्था और साधना–पद्धति की चर्चा की गई है। भाष्यों के पश्चात्चूर्णि साहित्य का क्रम आता है, चूर्णि–साहित्य की भाषा प्राकृत एवं संस्कृत भाषा का मिश्रित रूप है। इनमें भी आगमों की चूर्णियो की अपेक्षा मुख्य रूप से छेदसूत्रों की चूर्णियां ही अधिक प्रमुख हैं। उनमें एक आवश्यकचूर्णि ही ऐसी है, जो कुछ दार्शनिक–चर्चाओं को प्रस्तुत करती हैं। शेष चूर्णियों का संबंध आचार–शास्त्र से और उनमें भी विशेष रूप से उपसर्ग और

अपवाद–मार्ग की साधना से है। उसके पश्चात्, लगभग आठवीं शताब्दी के आगमों की व्याख्या के रूप में संस्कृत टीकाओं का प्रचलन हुआ, इनमें दार्शनिक–प्रश्नों की गम्भीर चर्चा है, किन्तु इसकी विशेष चर्चा हम जैन–दार्शनिक–संस्कृत–साहित्य के अन्तर्गत ही करेंगे।

यद्यपि, प्राचीनकाल में कुछ दार्शनिक ग्रन्थ भी प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं। इनमें मुख्य रूप से सन्मतितर्क का स्थान सर्वोपरि है। सन्मतितर्क मूलतः तो जैनों के अनेकान्तवाद की स्थापना करने वाला ग्रन्थ है, फिर भी इसमें अनेक दार्शनिक–प्रश्नों की चर्चा करके अनेकांत के माध्यम से उसमें समन्वय का प्रयत्न है। यह ग्रन्थ जहाँ एक ओर दार्शनिक एकान्तवादों की समीक्षा करता है, वही प्रसगोपेत अनेकांतवाद की स्थापना का प्रयत्न भी करता है। दार्शनिक–दृष्टि से इसमें सामान्य और विशेष की चर्चा ही प्रमुख रूप से हुई है और यह बताया गया है कि वस्तु–तत्त्व सामान्यविशेषात्मक होता है और इसी आधार पर वह एकान्त–रूप से सामान्य या विशेष पर बल देने वाली दार्शनिक–मान्यताओं की समीक्षा भी करता है। इसके अतिरिक्त, इसमें जैन–परम्परा के प्रचलित ज्ञान और दर्शन के पारस्परिक–सम्बन्ध को सुलझाने का भी प्रयत्न किया गया है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि दिगम्बर–परम्परा में जहाँ प्राकृत–भाषा में अनेक दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की, वहाँ श्वेताम्बर–परम्परा में दार्शनिक–प्रश्नों की चर्चा हेतु संस्कृत–भाषा को ही प्रमुखता दी है और इसका परिणाम यह हुआ की श्वेताम्बर और दिगम्बर–परम्पराओं में दार्शनिक–चर्चाओं को लेकर मुख्य रूप से संस्कृत–भाषा में ही ग्रन्थ लिखे गये। आगे, हम जैनों के दार्शनिक–संस्कृत–साहित्य की चर्चा करेंगे।

संस्कृत भाषा का जैन दार्शनिक साहित्य

यद्यपि जैन–तत्त्वज्ञान से संबधित विषयों का प्रतिपादन आगमों में मिलता है, किन्तु सभी आगम प्राकृत–भाषा में ही निबद्ध है। जैन–तत्त्वज्ञान से संबधित प्रथम सूत्रग्रन्थ की रचना उमास्वाति (लगभग 2 री शती) ने संस्कृत–भाषा में ही की थी। उमास्वाति के काल तक विविध दार्शनिक निकायों के सूत्रग्रन्थ अस्तित्व में आ चुके थे, जैसे–वैशेषिकसूत्र, सांख्यसूत्र, योगसूत्र, न्यायसूत्र आदि, अतः उमास्वाति के लिए यह आवश्यक था कि वे जैनधर्मदर्शन से

संबधित विषयों को समाहित करते हुए सूत्र–शैली में संस्कृत–भाषा में किसी ग्रन्थ की रचना करे। उमास्वाति के पश्चात् सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि ने भी जैन–दर्शन पर संस्कृत–भाषा में ग्रन्थ लिखे। सिद्धसेन दिवाकर ने भारतीय–दार्शनिक–धाराओं की अवधारणाओं की समीक्षा को लेकर कुछ द्वात्रिंशिकाओ की रचना संस्कृत भाषा में की थी, जिनमें न्यायवतार जैन प्रमाण मीमांसा का प्रमुख ग्रन्थ है। इसी प्रकार, आचार्य समन्तभद्र ने भी आप्त–मीमांसा, युक्त्यानुशासन एवं स्वयम्भूस्तोत्र नामक ग्रन्थों की रचना संस्कृत–भाषा में की। इन सभी की विषय–वस्तु दर्शन से सम्बन्धित रही है। इस प्रकार, ईसा की तीसरी–चौथी शताब्दी से जैन–दार्शनिक–साहित्य संस्कृत में लिखा जाने लगा था। उमास्वाति ने स्वयं ही तत्वार्थसूत्र के साथ–साथ उसका स्वोपज्ञ–भाष्य भी संस्कृत में लिखा था। लगभग 5 वीं शताब्दी के अन्त और छठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में दिगम्बराचार्य पूज्यपाद देवनन्दि ने तत्वार्थसूत्र पर 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका संस्कृत में लिखी। इसके अतिरिक्त, उन्होने जैनसाधना के सन्दर्भ में 'समाधितंत्र' और 'इष्टोपदेश' नामक ग्रन्थ भी संस्कृत–भाषा में ही लिखे। इसी कालखण्ड में श्वेताम्बर–परम्परा में मल्लवादी ने द्वादशारनयचक्र की रचना संस्कृत–भाषा में की, जिसमें प्रमुख रूप से सभी भारतीय–दार्शनिक–परम्पराएँ पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत की गई और उन्हीं में से उनकी विरोधी धारा को उत्तरपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर उनकी समीक्षा भी की गईं। इसके पश्चात्, 5 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य तो प्राकृत में लिखा, किन्तु उसकी स्वोपज्ञटीका संस्कृत में लिखी थी। उनके पश्चात्, 7 वीं शती के प्रारम्भ में कोट्टाचार्य ने भी विशेषावश्यकभाष्य पर संस्कृत–भाषा में टीका लिखी थी, जो प्राचीन भारतीय–दार्शनिक–मान्यताओं का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करती है, साथ ही उनकी समीक्षा भी करती हैं। लगभग 7वीं शताब्दी में ही सिद्धसेन गणि ने श्वेताम्बर–परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र की टीका लिखी थी, इसी क्रम में सिंहशूरगणि ने द्वादशारनयचक्र पर संस्कृत–भाषा में टीका लिखी थी। 8वीं शताब्दी में प्रसिद्ध जैनाचार्य हरिभद्रसूरि हुए, जिन्होंने प्राकृत और संस्कृत– दोनों ही भाषाओं में अपनी कलम चलाई। हरिभद्रसूरि ने जहाँ एक ओर अनेक जैनागमों पर संस्कृत में टीकाएँ लिखीं, वहीं उन्होंने अनेक

दार्शनिक–ग्रन्थों का भी संस्कृत–भाषा में प्रणयन किया। उनके द्वारा रचित निम्न दार्शनिक–ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध है– षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तवादप्रवेश, अनेकान्तप्रघट्ट आदि, साथ ही, इन्होंने बौद्ध–दार्शनिक दिङ्नाग के न्यायप्रवेश की संस्कृत–टीका भी लिखी। इसके अतिरिक्त, उन्होंने 'योगदृष्टिसमुच्चय' आदि ग्रन्थ भी संस्कृत–भाषा में लिखे। हरिभद्र के समकाल में या उनके कुछ पश्चात् दिगम्बर–परम्परा में आचार्य अकलंक और विद्यानन्दसूरि हुए, जिन्होंने अनेक दार्शनिक–ग्रन्थों की रचना की। जहाँ अकलंक ने तत्वार्थसूत्र पर 'राजवर्तिक' टीका के साथ–साथ न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, लधीयस्त्री, अष्टशती एवं प्रमाणसंग्रह आदि दार्शनिक ग्रन्थों की संस्कृत में रचना की। वही विद्यानन्द ने भी तत्वार्थसूत्र पर श्लोकवार्तिकटीका के साथ साथ आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, अष्टसहस्री आदि गम्भीर दार्शनिक–ग्रन्थों की संस्कृत–भाषा में रचना की। 10वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सिद्धसेन के न्यायावतार पर श्वेताम्बराचार्य सिद्धऋषि ने विस्तृत टीका की रचना की। इसी काल में प्रभाचन्द, कुमुदचन्द्र एवं वादिराजसूरि नामक दिगम्बर–आचार्यों ने क्रमशः प्रमेयकमलमार्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्र, न्यायविनिश्चय–टीका आदि महत्वपूर्ण दार्शनिक–ग्रन्थों की रचना की। इसके पश्चात् 11वीं शताब्दी में देवसेन ने लघुनयचक्र, बृहदनयचक्र, आलापपद्धति, माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख तथा अनन्तवीर्य ने सिद्धिविनिश्चय टीका आदि दार्शनिक कृतियों का सृजन किया। इसी कालखण्ड मैं, श्वेताम्बर परम्परा के अभयदेव सूरि ने सिद्धसेन के सन्मतितर्क पर वादमहार्णव नामक विशाल टीका ग्रन्थ की रचना की। इसी क्रम में दिगम्बर आचार्य अनन्तकीर्ति ने लघुसर्वज्ञसिद्धि, बृहद्सर्वज्ञसिद्धि, प्रमाणनिर्णय आदि दार्शनिक–ग्रन्थों की रचना की थी। इसी कालखण्ड में श्वेताम्बर–परम्परा में आचार्य वादिदेवसूरि हुए उन्होंने प्रमाणनयतत्वालोक तथा उसी पर स्वोपज्ञ–टीका के रूप में स्यादवादरत्नाकर जैसे जैन–न्याय के ग्रन्थों का निर्माण किया। उनके शिष्य रत्नप्रभसूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोक पर टीका के रूप में रत्नाकरावतारिका की रचना की थी। इन सभी में भारतीय–दर्शनों एवं उनके न्यायशास्त्र की अनेक मान्यताओं की समीक्षा भी है। 12वीं शताब्दी में हुए श्वेताम्बर–आचार्य हेमचन्द्र ने मुख्य रूप से

जैनन्याय पर प्रमाणमीमांसा (अपूर्ण) और दार्शनिक समीक्षा के रूप में अन्ययोगव्यवच्छेदिका ऐसे दो महत्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की। यद्यपि संस्कृत व्याकरण एवं साहित्य के क्षेत्र में उनका अवदान प्रचुर मात्रा में है, तथापि हमने यहाँ उनके दार्शनिक–ग्रन्थों की ही चर्चा की है। यद्यपि 13वीं, 14वीं, 15वीं और 16वीं शताब्दी में भी जैन–आचार्यों ने संस्कृत–भाषा में कुछ दार्शनिक–टीका–ग्रन्थों की रचना की थी, इनमें स्याद्वादमंजरी एवं शास्त्रवार्तासमुच्चय एवं षट्दर्शनसमुच्चय की टीकाएँ मुख्य हैं, किन्तु कुछ ग्रन्थ भी लिखे गये, फिर भी वे अधिक महत्वपूर्ण न होने से हम यहाँ उनकी चर्चा नहीं कर रहे हैं, यद्यपि इस काल खण्ड में कुछ दार्शनिक–ग्रन्थों की टीकाएँ जैसे–अन्ययोगव्यवछेदिका की स्यादवाद–मन्जरी नामक टीका, षडदर्शनसमुच्चय की टीका आदि भी लिखी गई थी, किन्तु विस्तारभय से उन सबमें जाना उचित नही हैं। 17वीं शताब्दी में श्वेताम्बर–परम्परा में उपाध्याय यशोविजय नामक एक प्रसिद्ध जैन लेखक हुए, जिनके अध्यात्मसार, ज्ञानसार आदि दर्शन के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। अध्यात्म के क्षेत्र में अध्यात्ममतसमीक्षा, अध्यात्मसार, ज्ञानसार आदि तथा दर्शन के क्षेत्र में जैन तर्कभाषा, नयोपदेश, नयसहस्र, न्यायालोक, स्यादवादकल्पलता आदि उनके अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उनके पश्चात्, 18वीं, 19वीं और 20वीं शताब्दी में जैन–दर्शन पर संस्कृत–भाषा में कोई महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा गया हो– यह हमारी जानकारी में नहीं है, यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र की शैली पर आचार्य तुलसी के जैनसिद्धान्तदीपिका और मनानुशासनम् नामक ग्रन्थों की संस्कृत–भाषा में रचना की है, फिर भी इस कालखंण्ड में संस्कृत–भाषा में दार्शनिक–ग्रन्थों के लेखन की प्रवृत्ति नहीवत् ही रही है।

जहाँ तक अपभ्रंश–भाषा में जैन–दार्शनिक–साहित्य का निर्देश उपलब्ध होता है, उसमें दो ग्रन्थ महत्वपूर्ण माने जाते हैं – 1. परमात्मप्रकाश और 2. प्राभृतदोहा (पाउड दोहा)। यद्यपि ये दोनों ग्रन्थ दर्शन की अपेक्षा जैन–साधना पर अधिक बल देते हैं, फिर भी इन्हें अपभ्रंश के दार्शनिक–जैन–साहित्य का महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जा सकता है, किन्तु इनकी चर्चा हम प्राकृत के जैन–दार्शनिक–साहित्य के साथ कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त दिगम्बर–जैन–परम्परा में स्वयंभू से लेकर मध्यकाल तक अनेक पुराणों

और काव्यग्रन्थों की संस्कृत में रचनाएं हुई हैं। उनमें भी जैनदर्शन की तत्त्वमीमांसा और आचारमीमांसा का विवरण हमें मिल जाता है।

अन्य भाषाओं में जैन दार्शनिक साहित्य

अन्य भारतीय–भाषाओं में जैन–दार्शनिक–साहित्य का निर्माण हुआ है, उसमें आगमों के टब्बे प्रमुख हैं। इनमें भी आगमों में वर्णीत दार्शनिक–मान्यताओं का मरूगुर्जर–भाषा में निर्देश हुआ है। मरूगुर्जर–भाषा में जैन–दर्शन का कोई विशिष्ट ग्रन्थ लिखा गया है, यह हमारी जानकारी में नहीं है, किन्तु हम सम्भावनाओं से इनकार नही करते हैं। मरूगुर्जर में जो दार्शनिक–चर्चाएँ हुई हैं, वे प्रायः खण्डन–मण्डनात्मक हुई हैं। इनमें भी अन्य मतों की अपेक्षा जैन–धर्म–दर्शन की विविध शाखाओं व प्रशाखाओं के पारस्परिक विवादों का ही अधिक उल्लेख है। जहाँ तक पुरानी हिन्दी और आधुनिक हिन्दी का प्रश्न है, उनमें भी पर्याप्त रूप से जैन–दार्शनिक–साहित्य का निर्माण हुआ हो, किन्तु उनमें से अधिकांश विषय पारस्परिक–दार्शनिक अवधारणाओं से संबधित हैं। इनमें मेरी जानकारी के अनुसार एक प्रमुख ग्रन्थ अमोलकऋषिजी कृत जैनतत्त्वप्रकाश है। यह सर्वांगीण रूप से जैन–दर्शन के विविध पक्षों की चर्चा करता है। यह सम्भावना है कि उनके द्वारा इस प्रकार के अन्य ग्रन्थ भी लिखे गये होंगे, किन्तु उनकी मुझे जानकारी उपलब्ध न होने के कारण उन पर अधिक कुछ कह पाना सम्भव नहीं है, यद्यपि गुणस्थान–सिद्धान्त पर अढीशतद्वारी भी इन्हीं का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जहाँ तक आधुनिक हिन्दी में लिखे गये जैन दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रश्न है, उनमें पं. फूलचन्दजी द्वारा लिखित जैनतत्त्वमीमांसा एक प्रमुख ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त, पं. (डॉ.) दरबारीलालजी कोठिया द्वारा रचित जैनतत्त्व, ज्ञानमीमांसा, पं. सुमेरचन्द दिवाकर द्वारा रचित जैन–शासन, पं. दलसुखभाई द्वारा रचित आगमयुग का जैनदर्शन, विजयमुनिजी रचित जैन दर्शन के मूलतत्त्व, आचार्य महाप्रज्ञजी द्वारा जैनदर्शन मनन और मीमांसा, पं. देवेन्द्रमुनिजी द्वारा रचित जैनदर्शन स्वरूप व विशलेषण एवं जैनदर्शन मनन और मूल्याकंन, पं. महेन्द्रकुमारजी जैन द्वारा रचित जैनदर्शन, मुनि महेन्द्रकुमार द्वारा रचित जैन दर्शन एवं विद्याम्, जिनेन्द्रवर्णी द्वारा रचित जैन दर्शन में पदार्थ विज्ञान, डॉ. मोहनलाल मेहता द्वारा रचित जैनदर्शन, मुनि न्यायविजयजी द्वारा रचित

जैनदर्शन आदि प्रमुख ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त, जैनधर्मदर्शन के विविध पक्षों के लेकर हिन्दी में पर्याप्त साहित्य की रचना की हैं। इनमें डॉ. रतनचन्द जैन का शोध प्रबन्ध– जैन दर्शन में निश्चय और व्यवहारनय, एक परिशीलन, पं. कैलाशचन्द्रशास्त्री का जैननन्याय एवं प्रमाण–नय–निक्षेप प्रकाश, डॉ. सागरमल जैन के जैनभाषादर्शन, जैनदर्शन में द्रव्य, गुण और पर्याय, जैनदर्शन का गुणस्थान–सिद्धान्त प्रमुख ग्रन्थ हैं। यहाँ हमने हिन्दी के कुछ ग्रन्थों का उल्लेख किया है, वैसे तो हिन्दी–भाषा में जैनधर्म एवं दर्शन से सम्बन्धित सैकड़ों ग्रन्थ हैं, जिनके नामोल्लेख से यह निबन्ध निबन्ध न रहकर एक ग्रन्थ ही बन जायेगा। इसी क्रम में साध्वी धर्मशिलाजी का नवतत्त्व, मुनिप्रमाणसागरजी का जैनधर्म और दर्शन, साध्वी विद्युतप्रभाजी का द्रव्यविज्ञान, समणी मंगलप्रज्ञाजी की आर्हतीदृष्टि भी जैनधर्मदर्शन के प्रमुख ग्रन्थ माने जाते हैं। हिन्दी–भाषा के अतिरिक्त बंगाली, पंजाबी, मराठी और कन्नड़–भाषाओं में भी आधुनिक युग में जैनधर्मदर्शन से सम्बंधित कुछ ग्रन्थ प्रकाश में आए हैं। विस्तारभय से उन सबकी चर्चा करना यहाँ सम्भव नहीं है। दार्शनिक–समस्याओं को लेकर पं. सुखलालजी के दर्शन और चिन्तन में प्रकाशित कुछ महत्वपूर्ण आलेख भी इस दृष्टि से विचारणीय है। इसी क्रम मे पं. कन्हैयालालजी लोढ़ा ने भी नवतत्वों पर अलग–अलग रूप से स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे हैं। वैसे, गुजराती–भाषा में भी पर्याप्त रूप से जैन–धर्म–दर्शन–संबधी साहित्य के ग्रन्थ लिखे गये हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में मेरी जानकारी की अल्पता के कारण उन पर विशेष कुछ लिख पाना सम्भव नहीं है। यद्यपि अंग्रेजी भारतीय–भाषाओं का एक अंग नहीं है, फिर भी विश्व की एक प्रमुख भाषा होने के कारण उसमें भी जैन–दर्शन–सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उसमें प्रो. नटमलजी टाटीया का जैन स्टडीज, डॉ. इन्द्रशास्त्री का जैन एपीस्टोमोलाजी, जे.सी. सिकन्दर का जैन थ्योरी आफ रियलिटी, प्रो. बी. आर. जैन का कासमोलाजी ओल्ड एण्ड न्यू आदि कुछ प्रमुख ग्रन्थ माने जा सकते हैं। यद्यपि आज कुछ मूल ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद सहित लगभग पॉच सौ से अधिक ग्रन्थ अंग्रेजी–भाषा में भी उपलब्ध हैं, फ्रेंच, ऊर्दू, पंजाबी, बंगाली आदि में क्वचित् जैनधर्मदर्शन सम्बन्धी ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय

डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्या पीठ, शाजापुर आगरा–मुम्बई मार्ग पर स्थित इस संस्थान का मुख्य उदेश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ–साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दु धर्म आदि के लगभग 12,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी है। यहाँ 40 पत्र पत्रिकाएँ भी नियमित आती है

इस परिसर में साधु–साध्वियों, शोधार्थियों और मुमुक्षुजनों के लिए अध्ययन–अध्यापन के साथ–साथ निवास, भोजन आदि की भी उत्तम व्यवस्था है।

शोधकार्य के मार्गदर्शन एवं शिक्षण हेतु डॉ. सागरमलजी जैन का सतत् सानिध्य प्राप्त है।

इसे विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा शोध संस्थान के रुप में मान्यता प्रदान की गई है।

डॉ. सागरमल जैन

जन्म	:	दि. 22.02.1932
जन्म स्थान	:	शाजापुर (म.प्र.)
शिक्षा	:	साहित्यरत्न : 1954
		एम.ए. (दर्शन शास्त्र) : 1963
		पी–एच.डी. : 1969

अकादमिक उपलब्धियाँ :

प्रवक्ता (दर्शनशास्त्र) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा	: 1964–67
सहायक प्राध्यापक म.प्र. शास. शिक्षा सेवा	: 1968–85
प्राध्यापक (प्रोफेसर) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा	: 1985–89
निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	: 1979–1987 एवं 1989–1997
लेखन	: 49 पुस्तकें
सम्पादन	: 160 पुस्तकें
प्रधान सम्पादक	: जैन विद्या विश्वकोष (पार्श्वनाथ विद्यापीठ की महत्वाकांक्षी परियोजना)

पुरस्कार :

प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार	: 1986 एवं 1998
स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार	: 1987
डिप्टीमल पुरस्कार	: 1992
आचार्य हस्तीमल स्मृति सम्मान	: 1994
विद्यावारधि सम्मान	: 2003
प्रेसीडेन्सीयल अवार्ड ऑफ जैना यू.एस.ए	: 2007
वागार्थ सम्मान (म.प्र. शासन)	: 2007
गौतम गणधर सम्मान (प्राकृत भारती)	: 2008
आर्चाय तुलसी प्राकृत सम्मान	: 2009
विद्याचन्द्रसूरी सम्मान	: 2011
समता मनीषी सम्मान	: 2012
सदस्य : अकादमिक संस्थाएँ	: पूर्व सदस्य – विद्वत परिषद, भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल सदस्य – जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ
	: पूर्व सदस्य – मानद निदेशक, आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर।
सम्प्रति	: संस्थापक – प्रबंध न्यासी एवं निदेशक प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र) पूर्वसचिवःपार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
विदेश भ्रमण	: यू.एस.ए. , शिकागों, राले, ह्यूटन, न्यूजर्सी, उत्तरीकरोलीना, वाशिंगटन, सेनफ्रांसिस्को, लॉस एंजिल्स, फिनीक्स, सेंट लूईस, पिट्सबर्ग, टोरण्टों, (कनाड़ा) न्यूयार्क, लन्दन (यू.के.) और काटमाडूं (नेपाल)

Printed at Akrati Offset, UJJAIN Ph. 0734-2561720